प्रकाशक
पुरुषोत्तमदास मोदी, एम०ए०
विश्वविद्यालय प्रकाशन,
गोरखपुर

प्रथम संस्करण
नवंबर, १९५३
मूल्य डेढ़ रुपया

मुद्रक
सदन लाल गुप्त
टेकनिकल प्रेस,
इलाहाबाद

अनुक्रम

हमारे अन्य प्रकाशन

वेलिक्रिसन रुकमणी—संपादक, प्रो० आनंदप्रकाश दीक्षित, मूल्य, ५)

"प्रस्तुत ग्रंथ के अन्तर्गत लेखक ने न केवल सरल-शब्दार्थ देकर अलंकार-निर्देशन किया है, वरन् इस काव्य की पृष्ठ-भूमि रूप में 'बेलि' की परम्परा, आधार भूत सामग्री, रचनाकाल, काव्य-सौष्ठव, भाव-भक्ति-निरूपण, प्रकृति-चित्रण आदि प्रसंगो की समीक्षा की है और इस प्रकार के ग्रंथों के साथ वेलि का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया है। यह सब कुछ डिंगल के विद्यार्थियों के लिए बड़ा उपयोगी है।"

—**डा० भगीरथ मिश्र**

श्रीचन्द्रावली नाटिका १॥) **भारत-दुर्दशा १॥)**

रचयिता, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, संपादक, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

"भारतेन्दु के नाटकों के ऐसे सुन्दर संस्करणों पर अनेक बधाई।"

—**डा० अमर नाथ झा**

मद्रिका (नाटक)—लेखक, सदगुरुशरण अवस्थी, मुल्य १॥)

चिन्तनप्रिय नाटक कार की यह कृति चिन्तन तथा रस से परिपूर्ण है।

उत्तरा-समीक्षा—लेखक—विष्णुदेव द्विवेदी, मूल्य डेढ़-रुपया।

पंत की नवीनतम काव्य-कृति 'उत्तरा' की पृष्ठ-भूमि में अभिनव-पंत का गंभीर अध्ययन लेखक ने प्रस्तुत किया है।

प्रारम्भिक रचनानुवाद-कौमुदी १), रचनानुवाद-कौमुदी ३) लेखक, डा० कपिल देव द्विवेदी, आचार्य

नवीनतम वैज्ञानिक पद्धति द्वारा इन दो पुस्तकों में लेखक ने संस्कृत भाषा तथा व्याकरण को सरलतम बना दिया है। ऐसी पुस्तकें जर्मन तथा फ्रेंच भाषाओं में ही प्राप्य हैं।

विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर

वक्तव्य

सेनापति हिन्दी के प्रौढ़ और सिद्ध कवि हैं। विहारी की भांति इनकी भी उपलब्ध रचनाओं में कच्चापन नहीं दीखता, जिससे हमारे मन में दो प्रकार के अनुमान उठते हैं —एक यह कि उन्होंने काफी प्रौढ़ावस्था में काव्य-रचना प्रारम्भ की, दूसरा यह कि इनकी अन्य रचनाएँ, जो प्रारम्भिक अथवा कम परिपक्व थीं नष्ट होगईं या लुप्त हैं। अथवा इनका कोई वहुत सिद्ध आचार्य-गुरु था जिसकी देख-रेख में इन्होंने कविता लिखी। इनका जो जीवन-वृत्त ज्ञात है उसमें इनकी पंडिताई के गुरु के रूप में हीरामणि दीक्षित का उल्लेख[1] है जिनके संवंध में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। परन्तु यह निश्चय है कि संस्कृत-ज्ञान की परम्परा और परिस्थिति, दोनों ही सेनापतिजी को सहज-सुलभ हुई। सेनापति इनका वास्तविक नाम नहीं जान पड़ता। न तो वह वंश की नाम-परम्परा से ही सामंजस्य रखता है और न ऐसा नाम प्रायः प्रचलित ही है अत: 'भूषण' के समान इसे भी प्रदत्त पद के रूप में कुछ लोग मानते हैं। अतएव कुछ लोग इनके व्यक्तित्व को प्रसिद्ध संस्कृत के विद्वान् 'सिद्धान्त कौमुदी' के प्रणेता 'भट्टोजी दीक्षित' पर आरोपित करते हैं[2]। परन्तु स्पष्ट और ठोस प्रमाण न मिलने तक हम इसे अनुमान ही कह सकते हैं। मैं समझता हूँ कि दोनों के जीवन कालों में भी वड़ा व्यवधान होगा। इनके निवासस्थान को विद्वानों ने अनूप-शहर माना है, पर उसका भी कोई प्रमाण नहीं। सेनापति का पार्थिव जीवन और संवंध प्रायः अज्ञात ही है।

फिर भी सेनापति उन कवियों में हैं जिन्होंने अपनी एक कृति 'कवित्त रत्नाकर' के कतिपय छन्दों के द्वारा ही सुदृढ़ ख्याति प्राप्त की। इनके छन्दों के वीच से इनकी प्रतिभा फूटी पड़ती है। एक निश्चित लय और वंधान में वँधी छन्द की पंक्तियाँ, नर्तकी के संतुलित पद-संचार के समान झमक और प्रवाह

---

१. महा जानि मनि, विद्यादान हू कौं चिंतामनि, हीरामनि दीक्षित तैं पाई पंडिताई है। 'कवित्त-रत्नाकर', पृ० ३, प्रथम संस्करण

२. देखिये—आचार्य जितेन्द्र भारतीय का—इस संवंध में लिखा लेख.।

के साथ गतिमान हैं। कहीं न अटक है और न तोड़ और वे छन्द के अन्त में पूरी भावभंगिमा के समवेत प्रभाव के समान मर्मस्पर्शी और स्मरणीय छाप डालती हैं। सेनापति का शब्द-चयन उनके असाधारण अधिकार और विलक्षण सूझ का द्योतक है जिसके बलपर वे छन्दों में न केवल वर्ण-मैत्री, शब्द-साम्य, गति और प्रवाह ही भर देते हैं वरन् श्लेष, वक्रोक्ति के आधार पर कल्पना, मन और बुद्धि को चमत्कृत करते चलते हैं। इन समस्त कवित्व के नैसर्गिक गुणों से युक्त इनकी कविता का अपना निजी व्यक्तित्व बन गया है और कहीं भी मिलाकर इनके छन्द रखिये, ये ओजस्वी सैनिकों की भाँति पुकार कर कहते हैं कि हम सेनापति के हैं।

सेनापति की पद्धति पर कवित्त लिखने वाले उनके परवर्ती दो-तीन कवि जिनका नाम लिया जा सकता है—देव, पद्माकर और रत्नाकर हैं। देव और पद्माकर की शब्द-योजना में उतनी सतर्कता नहीं; साथ ही इनमें अधिक प्रचलित और टकसाली शब्द भी उस मात्रा में नहीं जितने सेनापति में। सेनापति तो साधारण प्रचलित शब्दों और मुहावरों को अपने कुशल और और चमत्कारपूर्ण प्रयोग से एक नयी आभा प्रदान करते हैं। ऐसा नहीं लगता कि एक पंक्ति की पूरक तीन भरती की पंक्तियाँ इन्होंने अपने कवित्तों में रखी हैं। इस गुण में ये विहारी के समान ही है और इन दोनों कलाकारों के काव्यों में एक अद्भुत निखार, चमक और विदग्धता भरी हुई है। रत्नाकर भी इसी प्रकार के कवि हैं, पर उनका प्रयत्न समस्त भाव-योजना और वाक्य-रचना में अधिक संलग्न दीखता है, एक-एक शब्द या पद के माँजने में उतना नहीं। सेनापति के प्रत्येक शब्द में न केवल चमक है, वरन् एक गति है। वह अभिनय-शील सा है। जैसे—

आयौ सखी सावन, मदन सरसावन, लायौ है बरसावन सलिल चहूँ ओर तें।
× × ×
सेनापति उनए नए जलद सावन के, चारि हू दिसान घुमरत भरे तोइ कैं।
× × ×
बीती औधि आवन की लाल मनभावन की, डग भई बावनकी सावन की रतियाँ।

इस प्रकार सेनापति का काव्य प्रतिभापूर्ण है और शब्द के चमत्कार-पूर्ण प्रयोग की प्रेरणा भरने वाला है। आज के गद्य-प्रधान युग में—जब कि लोगों का कविता की अलग और विशिष्ट सत्ता पर से विश्वास उठा सा जा रहा है—सेनापति जैसे कवियों का काव्य पुकार कर कहता है कि गद्य, कविता का स्थान कभी नहीं ले सकता। कविता का सौन्दर्यमय व्यक्तित्व, उसका कलात्मक और मोहक क्रिया-कलाप नवीन जीवन और प्रेरणा के संचार करने की अद्भुत क्षमता रखता है। उस पर से विश्वास खोना, जीवन के कलापूर्ण उल्लासमय विकास पर अनास्था प्रगट करना है।

सेनापति ने अपनी अनतिविस्तृत काव्य-रचनाओं में प्रकृति की भी मोहक झाँकियाँ प्रस्तुत की हैं जो इसकी द्योतक हैं कि सेनापति ने क्या देखा है। बड़े-बड़े लम्बे-चौड़े प्रकृति-वर्णन के काव्य भी यदि उसके भीतर की नव्यता को स्पष्ट न कर सकें, तो केवल रचना-विस्तार से उन्हें गौरव नहीं मिल सकता। सेनापति सरीखे कुछ कवियों की दृष्टि प्रकृति के मर्म भरे रूपों में उलझती है अतः उनका संक्षिप्त संकेतपूर्ण उद्घाटन उसके समस्त व्यापक व्यक्तित्व को अपने आप प्रस्तुत करने की शक्ति रखता है। प्रकृति-वर्णन में कवित्व इस प्रकार की सौन्दर्य-पारखी दृष्टि के विना, नहीं आ सकता।

सेनापति ने अधिकांश शृंगारिक कविता लिखी है, परन्तु इनका राम-भक्ति संबंधी काव्य भी नगण्य नहीं। वरन् उसे ध्यान से देखने पर कवि की अन्तर्वृत्ति उसमें लवलीन दिखलाई पड़ती है। साथ ही साथ हिन्दी के इतिहास-कारों ने उन्हें भक्तिकालीन फुटकल कवियों में रखा है[1]। परन्तु उनकी भक्ति-भावना विहारी की भक्ति-भावना के समान ही है। ये दोनों कवि कला के उपासक हैं और भक्ति केवल युग के संस्कार-रूप में विद्यमान है। भक्ति-युग के अन्तिम समय में आते हुए भी उनमें रीति-काव्य के संस्कार जमे हुए हैं, इस प्रकार के अनेक पक्ष हमारे सामने आते हैं जिनपर विस्तृत विवेचन की आवश्यकता थी। मुझे इस बात का वड़ा हर्ष है कि मेरे परम प्रिय शिष्य श्री

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—श्री रामचंद्र शुक्ल—पृष्ठ ४८

रामचन्द्र तिवारी ने रीति-काव्य की परम्परा तथा तत्कालीन प्रवृत्तियों की पृष्ठ-भूमि में सेनापति के काव्य का अध्ययन प्रस्तुत किया है। अपने युग की छाया में ही कवि के कृतित्व का मूल्य पूर्ण रीति से आँका जा सकता है। अतएव यह प्रयत्न सेनापति का एक संगठित अध्ययन है और हिन्दी साहित्यिकों और विशेषतः विद्यार्थियों के लिए वड़ा ही उपयोगी होगा ऐसा मेरा विश्वास है। तिवारी-जी सुलझी वुद्धि के, परिश्रमशील होनहार युवक हैं। मुझे आशा है कि इनकी लेखनी से भविष्य में और अधिक प्रौढ़ साहित्यिक विवेचना-संबंधी कृतियाँ लिखी जायेंगी।

दीपावली
कार्तिक कृष्ण ३०, संवत् २०१०
निकुंज, वनारसी वाग
लखनऊ

भगीरथ मिश्र
एम०ए०, पी-एच०डी०
रीडर, हिन्दी विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय

रीतिकालीन हिन्दी कविता

रीति-युग

'काव्य' कृतियों की प्रभूत रचना तथा उनके लक्षण, स्वरूप, सीमा आदि की पर्याप्त चर्चा के पश्चात् संस्कृत साहित्य में एक ऐसा युग आया जब आचार्य-गण काव्य की अन्तरात्मा के अनुसन्धान एवं विश्लेपण में रत हुए[1]। फलस्वरूप 'अलंकार', 'रीति', 'वक्रोक्ति', 'ध्वनि' और 'रस', काव्य के इन पांच प्रमुख तत्त्वों को काव्यात्मा के रूप में उपस्थित किया गया। इस प्रकार संस्कृत-वाङ्मय में 'रीति' काव्य की अन्तरात्मा के रूप में उपस्थित एक विशिष्ट काव्य-पद्धति है जिसमें पद-रचना-कौशल पर अधिक बल दिया गया था[2]।

हिन्दी-साहित्य में रीति का विशिष्ट अर्थ

हिन्दी-साहित्य में 'रीति' शब्द का प्रयोग इससे भिन्न अर्थ में किया गया। काव्यगत वे समस्त विशेपतायें जिनकी आवश्यकता काव्य-ज्ञान के लिए कवि-वर्ग को होती थी, 'काव्य-रीति' के नाम से अभिहित की जाती थीं[3]। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में 'रीति' शब्द का प्रयोग इस व्यापक अर्थ को ध्यान में रखकर ही किया था। अतः हिन्दी-काव्य-परम्परा में 'रीति' शब्द को 'काव्य-रीति' अर्थात् रस, अलंकार, पिंगल आदि सभी काव्याङ्गों से समन्वित काव्य-प्रणाली के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए।

नामकरण

शुक्लजी के पूर्व मिश्र बन्धुओं ने रीति-युग की काव्य-रचना में अलंकरण की प्रवृत्ति प्रधान देखकर उसे अलंकृत काल कहा था; इधर

---

1. Perhaps the most important question which the Alankarsastra discusses is 'what is essence or soul of Poetry?' × × out of these discussions, which were carried on regarding the essence of poetry five Schools of thought emerged.

[इंट्रोडक्शन टु काव्यप्रकाश—प्रोफेसर गजेन्द्र]

२. रीतिरात्मा काव्यस्य ; विशिष्टापदरचना रीतिः। [वामन]

३. काव्य की रीति सिखी सुकबीन सों
देखी सुनीं बहुलोक की बातें। [काव्य निर्णय—भिखारीदास]

पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'विषय' के आधार पर नामकरण की समीचीनता सिद्ध करते हुए रीति-युग को 'शृंगार-काल' की संज्ञा प्रदान की है[१]। यह होते हुए भी 'रीति-काल' संज्ञा हिन्दी-समाज के बीच अपने ऐतिहासिक महत्व के कारण व्यापक स्थान बना चुकी है और इसके परिवर्तन की विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने 'रीति-युग' के उद्भव की अनेक गाथायें प्रस्तुत की हैं। परिस्थितियों के परिवर्तन स्वरूप काव्यधारा का धर्माश्रयता त्याग कर राजाश्रय में आना; परवर्ती अलंकरण प्रिय संस्कृत कवियों का अन्धानुकरण; कृष्ण-काव्य के आध्यात्मिक शृंगार का प्रभाव तथा राम-काव्य की उच्च नैतिकता एवं मर्यादा की सहज प्रतिक्रिया के समन्वित प्रभाव ने हिन्दी रीति-काव्य के विषय तत्वों तथा शैलीगत विशिष्टताओं को पोषित एवं पल्लवित किया है। निश्चय ही उपर्युक्त सभी कारणों में सत्य का पर्याप्त अंश है परन्तु भूलना न होगा कि व्यक्ति, समाज, धर्म, नीति, संस्था, वर्ग आदि अनेक रूपों में बिखरी हुई सामाजिक शक्तियाँ ही साहित्य का स्वरूप निश्चित करती हैं। हिन्दी-साहित्य का रीति-युग भी समाज की परिवर्तित परिस्थितियों से ही प्रसूत है। भक्ति युगीन हिन्दी-साहित्य, हिन्दी-प्रदेश की सामन्तवादी व्यवस्था से हिन्दी जनता के मानसिक संघर्ष की गाथा प्रस्तुत करता है और रीतिकालीन साहित्य सामन्तवाद के चरणों में जन-जीवन के आत्मसमर्पण की करुण कहानी कहता है।

उद्भव के हेतु

परिस्थितियों से पराभूत होकर रीतिकालीन हिन्दी कवियों ने अनेक माध्यमों से शृंगार रस की अबाव धारा प्रवाहित की। इसके लिए उन्हें पुष्ट पीठिका प्राप्त थी। भावावेश में लिखा हुआ संस्कृत का स्तोत्र-साहित्य जीवन के स्वच्छन्द एवं मुक्त उल्लास को व्यक्त करने वाला सप्तशती-साहित्य—गाथा-सप्तशती, आर्यासप्तशती, अमरुक-शतक—तथा काम-शास्त्र के अनेक ग्रंथों में बिखरी हुई शृंगार रस

विषय-तत्व की परम्परा

१. देखिए 'वाङ्मय विमर्श' तथा 'बिहारी'—[विश्वनाथ प्रसाद मिश्र]

की सामग्री रीतिकालीन कवियों ने संग्रहीत की। ऐसा उन्हें स्वयं अपनी श्रृंगारिक प्रवृत्ति को तुष्ट करने के लिए नहीं वरन् आश्रयदाताओं के अलस विलासमय जीवन को उत्तेजित करने के लिए करना पड़ा। काव्यादर्श सम्वन्धी अपनी फुटकल उक्तियों में इन कवियों ने इस सत्य को स्वीकृति दी है।[1]

पूर्ववर्ती साहित्य में श्रृंगार की व्यापकत्ता

'श्रृंगार' रस की कविता भारतीय साहित्य में सदैव सतत रूप से होती रही है। 'रति' मानव हृदय की मूल प्रवृत्ति है। अतः उसका उद्रेक और विस्तार स्वाभाविक है। इसी नैसर्गिक विशेषता के कारण हिन्दी-साहित्य में भी, सभी कालों में, विविध रूपों में श्रृंगारी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। चारण कालीन वीर गाथाओं में पारस्परिक एवं जातीय संघर्षों के वीच में विश्राम-स्थली के रूप में; निर्गुण पंथी संतों में आध्यात्मिक श्रृंगार के रूप में; सगुण भक्तों में देव-रति के रूप में; प्रेमाख्यानक काव्यों में आध्यात्मिक प्रेम के प्रतीक रूप में जीवन की इसी मूल प्रवृत्ति का अनेक रूपात्मक विकास देखा जा सकता है। 'रीति काल' में यह धारा सतत रूप से प्रवाहित होती हुई लौकिक प्रणय-भूमि पर विस्तार पाती रही। किन्तु न तो इसमें स्तोत्रों में प्राप्त श्रृंगारी रचनाओं का भावावेश दृष्टिगत होता है और न सप्तशती के स्वच्छन्द श्रृंगार में प्रतिविम्वित जीवन का स्वस्थ उल्लास ही। संघर्षों से दूर हटकर आत्म विस्मरण के हेतु, इस युग की चेतना श्रृंगार-लहरियों में डुवकी लगाने में ही जीवन की सफलता मान वैठी थी।

रीति-काव्य की परम्परा

'रीतिकाव्य' का विकास सं० १७०० से १९०० तक माना गया है। किन्तु रीति ग्रन्थों का प्रणयन इसके पूर्व ही प्रारम्भ हो गया था। सं० १५९५ में कृपाराम की 'हित-तरंगिणी' लिखी गयी थी। यह दोहों में लक्षण-लक्ष्य शैली में लिखी गई है। ग्रंथ-कर्ता ने अपने पूर्ववर्ती रीतिकारों का उल्लेख करते हुए कहा है—

वरनत कवि सिंगार रस, छन्द वड़े विस्तारि।
मैं वरन्यो दोहानि विच, याते सुघर विचारि॥[2]

---

१. ठाकुर सो कवि भावै मोहि जो राजसभा में वड़प्पन पावै।
२. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ५१।

इस कथन से इतना तो स्पष्ट है कि कृपाराम के पहले भी 'रस-रीति' ग्रंथों की परम्परा थी। यह अवश्य है कि भक्ति-काव्य का प्राचुर्य होने के कारण अभी यह परम्परा अपना मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकी थी। कृपाराम के बाद भी रीति-ग्रंथों की क्रमबद्ध शृंखला देखी जा सकती थी। मोहन लाल का 'शृंगार सागर' (१६१६), करनेस के 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण', 'भूपभूषण' (१६३७), बलभद्र मिश्र का 'नखशिख' (१६४०), रहीम का 'बरवैनायिका भेद' (१६४०), केशवदास की 'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिया' (१६५०), मोहनदास का 'बारह-मासा' (१६५०), हरिराम की 'छन्द रत्नावली' (१६५१), बालकृष्ण की 'रस चन्द्रिका' (पिंगल) (१६५७), लीलाधर का 'नखशिख' (१६७६), सुन्दर कवि का 'सुन्दर शृंगार' (१६८८) तथा सेनापति का 'षटऋतु वर्णन' (१७००)। 'काव्यरीति' के ये अनेक ग्रन्थ संवत् १७०० के पूर्व रचे जा चुके थे। फलतः रीति-काव्य का प्रारम्भ सं० १६०० के आस-पास मानने में कोई हानि नहीं। लगभग एक शती तक यह धारा भक्ति-काव्य के समानान्तर क्षीण गति से प्रवाहित होती रही। पश्चात् भक्ति-काव्य के क्षीण होने पर इसका अखण्ड, व्यापक एवं अबाध प्रवाह चल पड़ा।

रीति-साहित्य के विविध मोड़

समस्त रीति काव्य-प्रवाह को हम स्पष्टतया तीन मोड़ों में लक्ष्य कर सकते हैं। संवत् १६०० से लेकर १७०० तक का काल प्रस्तावना काल कहा जा सकता है। १७०० के पश्चात् विकास-विस्तार-काल माना जा सकता है। तदुपरान्त प्रवृत्ति-परिवर्तन का स्वर सुनाई पड़ता है। फलस्वरूप शैली की दृष्टि से परम्परा निर्वहण होते हुए भी विषयतत्त्व की दृष्टि से 'वीर-काव्य' के पुनर्जागरण की झलक मिलती है। जैसा को कहा जा चुका है रीति काव्य-धारा का यह विकास-क्रम, विषय तत्त्व के आधार पर ही सम्भव है।

शैली की दृष्टि से स्वरूप-विभाजन

शैली की दृष्टि से समस्त रीति कालीन शृंगारिक काव्य का विभाजन, **रीतिबद्ध** और **रीतिमुक्त**, इन दो प्रमुख प्रवृत्तियों में किया जा सकता है। रीतिबद्ध काव्य प्रवृत्ति के भी दो रूप देखे जा सकते हैं। एक लक्षण-लक्ष्य बद्ध काव्य और

दूसरा केवल लक्ष्य काव्य। इसी प्रकार रीति-मुक्त काव्य-धारा के भी द्विविध प्रवाह स्पष्टतः लक्ष्य किये गए हैं। प्रथम रहस्योन्मुख प्रेम-काव्य और द्वितीय विशुद्ध प्रेम-काव्य।

रीतिवद्ध काव्यकारों के प्रथम वर्ग में तो प्रायः रीतिकालीन वे सभी कवि आ जाते हैं जिन्होंने काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन किया है। द्वितीय वर्ग अर्थात् केवल लक्ष्य प्रस्तुत करने वाले कवियों में सेनापति, विहारी तथा रसनिधि आदि का नाम लिया जा सकता है। इन कवियों ने यद्यपि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ नहीं लिखे, फिर भी इनकी रचनाओं का स्वरूप यह स्पष्ट कर देता है कि इनका ध्यान काव्य-रीति—अलंकार, रस, नायिका भेद, षट्ऋतु वर्णनादि—की ओर अवश्य था। अतः ये सर्वथा रीति-मुक्त नहीं थे। हां इनके वन्धन ढीले अवश्य थे। इनके छन्द किसी लक्षण के अनिवार्य उदाहरण न होकर स्वतन्त्र उक्ति के रूप में सामने आये हैं।

कवियों के विविध वर्ग

रीति-मुक्त कवियों ने काव्य-शास्त्र के वन्धनों को स्वीकार नहीं किया। ये मुक्त हृदय से प्रेम का राग अलापते रहे। इनकी जीवन-प्रवृत्ति भी स्वच्छन्द थी। अतः इनमें अधिकांश राज्याश्रय से भी दूर रहे। इन कवियों के भी दो वर्ग हैं। आलम, ठाकुर, द्विजदेव आदि विशुद्ध प्रेम-पद्धति लेकर चले हैं। परन्तु रसखानि, घनानन्द और वोधादि कवियों का प्रेम आध्यात्मिक प्रेम के उच्च धरातल को संस्पर्श करता हुआ प्रतीत होता है। विद्वान् समालोचक श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इनकी प्रेम-पद्धति को सूफियों के प्रेम की पीर से प्रभावित माना है। जो भी हो इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि घनआनंद आदि कवियों ने अपने प्रेम को, अलौकिक प्रेम-सागर की ही एक तरल-तरंग माना है।[1] इस प्रसंग में यह भूलना न होगा कि चाहे

---

१. प्रेम को महोदधि अपार हेरि कै विचार,
वापुरो हहरि वार ही तें फिरि आयी है।
ताही एकरस ह्वै विवस अवगाहैं दोऊ,
नेही हरि-राधा जिन्हैं देखे सरसायी है॥

ये कवि रीति-बद्ध रहे हों या रीतिमुक्त; इनका काव्य-विषय शृंगार ही था।

रीति-ग्रंथों का स्वरूप

रीतिकाल में प्रचुरता काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों (रीति-ग्रन्थों) की ही रही। जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य में 'रस', 'अलंकार', 'रीति', 'वक्रोक्ति' और 'ध्वनि' सिद्धान्तों के आधार पर सैद्धान्तिक आलोचना के सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे, उस प्रकार की कोई स्पष्ट प्रवृत्ति हिन्दी-रीति-साहित्य में नहीं परिलक्षित होती। फलस्वरूप रीति-युगीन काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों का अध्ययन उपर्युक्त आलोचना-सम्प्रदायों के आधार पर नहीं किया जा सकता। फिर भी इस समस्त सामग्री को चार प्रमुख वर्गों में रखा जा सकता है। (१) वे ग्रन्थ जिनमें केवल अलंकारों के ही लक्षण उदाहरण हैं। (२) वे ग्रंथ जिनमें केवल रस विवेचन है। (३) वे ग्रंथ जिनमें केवल शृंगार-रस का वर्णन है और प्रसंगतः नायक-नायिका-भेद तथा ऋतु-वर्णन भी किया गया है। (४) वे ग्रंथ जिनमें काव्य-शास्त्र सम्बन्धी समस्त, अधिकांश, या एक से अधिक सामग्री प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इन समस्त रीति-ग्रंथों का विवेचन न यहाँ आवश्यक ही है और न सम्भव ही। अतः इनकी सामान्य विशेषताओं से ही हम परिचय प्राप्त करेंगे।

रीतिकालीन साहित्य और उसकी विशेषताएँ

'हिन्दी', काव्य-शास्त्रियों ने काव्य-शास्त्र विषयक मौलिक उद्भावनायें नहीं कीं। उन्होंने परवर्ती संस्कृत-आचार्यों के बोधगम्य शैली में लिखे गए लोक-प्रिय ग्रन्थों का ही आधार लिया।[1] प्रायः अलंकार ग्रंथों में जयदेव के

ताकी कोऊ तरल तरंग-संग छूट्यौ कन,
पूरि लोक लोकनि उमगि उफनायौ है।
सोई घन आनन्द सुजान लागि हेत होत,
ऐसे मथि मन पै सरुप ठहरायौ है॥

१. इस सम्बन्ध में कुछ कवियों की 'आत्म-स्वीकृति' दर्शनीय है।

मत लहि 'काव्य-प्रकाश' कौ, 'काव्य-प्रदीप' सँजोइ।
'साहित्य-दर्पण' चित समुझि 'रस-गंगाधर' सोइ॥
समुझि परै साहित्य को, जातै परम प्रकास।
सुकवि प्रताप विचारि चित, कीन्हो काव्य विलास॥

[काव्य विलास—प्रताप सिंह]

'चन्द्रालोक' और अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' का आधार लिया गया। रस-निरूपण का आधार भानुदत्त की 'रस-तरंगिणी बनी' तथा नायिका भेद वर्णन में उन्हीं की 'रसमञ्जरी' सामने रक्खी गयी। कुछ व्यापक दृष्टि से विचार करने वाले हिन्दी-आचार्यों ने मम्मटाचार्य के 'काव्य-प्रकाश', विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण', पंडितराज के 'रस-गंगाधर' तथा भरत के 'नाट्य शास्त्र' से भी सामग्री ली।

विवेचन का आधार

सूरति मिश्र, चिन्तामणि कुलपति, देव, श्रीपति, भिखारीदास और प्रतापसाहि आदि हिन्दी के प्रमुख आचार्यों की आधार भूत सामग्री भी विशेषतः उपर्युक्त ग्रंथों से ही ली गई है। इस नियम के अपवाद रूप में केवल केशव का नाम लिया जा सकता है। उन्होंने दण्डी के 'काव्यादर्श' केशव मिश्र के 'अलंकार'—'शेखर' तथा अमरचन्द्र के 'कवि कल्पलता वृत्ति' का आधार लिया। यह होते हुए भी केशव को किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता और न उनके काव्यशास्त्रीय विवेचन पर ही गर्व किया जा सकता है क्योंकि केशव की मूल प्रवृत्ति चमत्कार-प्रदर्शन थी। अतः शास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन करते समय भी वे उनकी सूक्ष्मताओं की ओर न जाकर उसमें चमत्कार लाने का प्रयत्न करते रहे।

हिन्दी के काव्यशास्त्री मूलतः कवि थे। आचार्यत्व उनमें नहीं था। शास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन उन्होंने परम्परा-निर्वहण के लिये कवि-पन्थ-पालन करते हुए किया। लक्षणों के उदाहरण उन्होनें स्वयं निर्मित किए। संस्कृत-साहित्य के परवर्ती आचार्यो में यद्यपि स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी फिर भी संस्कृत के आचार्य अन्यों के उदाहरण भी देते रहे। इस स्वरचित उदाहरण की प्रवृत्ति ने हिन्दी कवियों और आचार्यों की विवेचन शक्ति का विकास न होने दिया। दूसरों की रचनाओं से गुण-दोष ढूँढ़ते समय हमारा ध्यान लक्षण की सूक्ष्म विशेषताओं पर रहता है और उन्हीं को सामने रख क हम 'लक्ष्य-ग्रंथ' पर विचार करते हैं। इसके विपरीत स्वयं उदाहरण करने में हमारा ध्यान लक्ष्य की ओर रहता है। यदि कोई विषय हमें

आचार्यत्व की कमी

रुचता है तो उसे हम एक से अधिक वार उदाहृत करना चाहेंगे और यदि कोई नहीं रुचता तो उसे टालने की चेष्टा भी करेंगे फलस्वरूप उसके लक्षण को भी टाल देंगे। ऐसा हिन्दी के अनेक आचार्यों ने किया भी।

आचार्यत्व की कमी, अध्ययन के अभाव तथा संस्कृत के अपूर्ण ज्ञान के अतिरिक्त इनके विषय प्रतिपादन की स्थूलता का एक अन्य कारण भी था।

विवेचन की स्थूलता के अन्य कारण

रीतियुग में समस्त ज्ञानराशि को पद्य शैली में ही बांधने का प्रयत्न किया जाता था। स्पष्ट है कि सूक्ष्म विवेचन, प्रौढ़ चिन्तन, एवं गहन अध्ययन का सम्भार, वाणी गद्य रूप में ही कर सकती है। फलतः गद्य के अभाव एवं उसके अप्रौढ़ रूप ने भी शास्त्रीय विवेचन को आगे न वढ़ने दिया।

इस सम्वन्ध में यह भी स्मरण रखना होगा कि रीतिकालीन काव्य का उद्देश्य राजदरवारों में आदर पाना था। प्राकृत जन गुणगान करने में अव गिरा को सिर धुन कर पछताना नहीं पड़ता था। राजदरवारों का वातावरण सूक्ष्म चिन्तन के लिए नहीं था। वहाँ तो हलका मनोरञ्जन, हृदय को फड़का देने वाली सूक्ति, वाह! वाह!! कहा देने वाली चमत्कारिकता तथा फिर कहिए, फिर कहिए, कह देने के लिए वाध्य करने वाली सरसता अपेक्षित थी। इसी में काव्य की सफलता तथा कवि कर्म की कृतार्थता थी। कभी-कभी तो वेचारे हिन्दी के सीधे-साधे कवि को संस्कृत के मजे हुए पण्डितों, तथा फारसी के घिसे हुए उस्तादों से अखाड़ा भी लेना पड़ता था। ऐसी परिस्थिति में शास्त्रीय विवेचन एवं गूढ़ काव्य-तत्त्वों से उलझने के लिए न अवसर था, न आवश्यकता थी और न अवकाश ही।

श्रृंगार की व्यापकता

अधिकांश रीति-काव्यकारों की दृष्टि 'श्रृंगार रस' पर ही आद्योपान्त लगी रही। अतएव श्रृंगार सम्वन्धी वर्ण विषयों का न केवल वर्णन-विस्तार ही हुआ वरन् उनके विविध रूपों की कल्पना भी की गई। श्रृंगार के आश्रय-आलम्वन, नायक-नायिका हैं। श्रृंगार के मूलभूत तत्त्व 'रति' की स्थिति इन्हीं में है। अतः इनकी अनेक जातियों, रूपों, स्थितियों और स्वभावों की चर्चा की

गई। इन दोनों में भी 'नायिका' के प्रति कवियों का अधिक आकर्षण रहा। फलतः जाति, कर्म, गुण, देश, वयक्रम, शील, अंग-रचना, कुल आदि आधारों पर बहुसंख्यक तथा विविध रूपिणी नायिकाओं के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए। रतिभाव की उद्दीप्ति के लिए प्रकृति का साहचर्य आवश्यक मानकर उसे भी उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत घसीटा गया। वनस्थली, गृहाराम, चन्द्र, नदीतट आदि प्रकृति के मनोरम तत्त्वों; संयोग और वियोग की स्थितियों में इनकी सुख-दुखात्मक प्रतिक्रियाओं; एवं षट्ऋतुओं, तथा बारहमासों में इनके क्षण-क्षण परिवर्तित स्वरूपों का यथार्थ-काल्पनिक, स्वाभाविक-अलंकारिक और प्रत्यक्षानुभवआधारित-परम्परा-ग्रहीत वर्णन भी प्रचुरता के साथ हुआ। 'शृंगार रस' की व्यापकता पर ध्यान रखकर संयोग की औचित्य तथा अनौचित्य पूर्ण अनेक स्थितियों की कल्पना की गई। वियोग व्यापार की व्यापकता-पूर्वराग, मान, प्रवास तथा मृत्यु की दशाओं में दिखाई गई। कभी कभी पूर्वराग के अन्तर्गत और अधिकतर प्रवास-दशा में विरह की दशों अवस्थाओं के मार्मिक-ऊहात्मक दृश्य चित्रित किए गए। तापाधिक्य और कृशता को विरह का अनिवार्य परिणाम समझकर इनके वर्णन की ओर विशेष रुचि दिखाई गई। नायक-नायिकाओं का पूर्वराग की स्थिति में रागोद्भव एवं परस्पर मिलन कराने के लिए, मान की स्थिति में अनेक युक्तियों द्वारा उसे भंग कराने के लिए; प्रवास की स्थिति में सान्त्वना देने के लिए और इसी प्रकार जीवन की सुखद स्थितियों में शृंगार एवं अंग रचना से लेकर प्रेम व्यापार की अनेक मनोहर योजनाओं को सफल बनाने के लिए अंतरंग-बहिरंग सखियों और दूतियों की उद्भावना करनी पड़ी। इस प्रकार नायक-नायिका भेद, ऋतुवर्णन, शृंगार की संयोग-वियोग दशाओं का विस्तृत वर्णन तथा सखी और दूतियों की कल्पना, ये सभी शृंगार-विवेचन के अनिवार्य अंग मान लिए गए।

शृंगार की प्रमुखता को अनावश्यक विस्तार देकर कभी कभी कुछ कवि महोदयों ने उसी के भीतर अन्य सभी रसों का समावेश करना चाहा। इस प्रकार एक अस्वाभाविक एवं विचित्र आयोजन सामने आया। शृंगार की

उपासना ने एक और महत्वपूर्ण कार्य किया। 'रति' की उद्दीप्ति के लिए मानव सौंदर्य को भी एक आवश्यक अंग मानकर नायिकाओं का नख-शिख-सौंदर्य वर्णन किया गया। नख से लेकर शिख तक शरीर के अनेक अंगों का सौंदर्य अंकन एक बंधी बंधाई परिपाटी पर प्रस्तुत किया जाने लगा। इस दिशा में भावावेश में लिखे गए संस्कृत के स्तोत्रों में प्राप्त देवताओं का सौंदर्य अंकन—शिख-नख—भी प्रेरक सिद्ध हुआ। इस प्रकार रीतिकालीन काव्य में नख-शिख-वर्णन की एक परिपाटी ही चल पड़ी जो कवि-पन्थ का एक अनिवार्य अंग मानी गई।

शास्त्रीयता की कमी किन्तु काव्यत्व की पूर्णता

यह तो स्वीकृत सत्य है कि रीतिकालीन हिन्दी-काव्य-शास्त्र-विवेचन-समीक्षा की पूर्णता, सिद्धान्तों की सूक्ष्मता, दृष्टिकोण की व्यापकता एवं विचारों की मौलिकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है। परन्तु काव्यत्व की दृष्टि से इसका महत्व भुलाया भी नहीं जा सकता। जीवन के मार्मिक खण्डचित्रों एवं सरस अवतरणों को लेकर चलने वाली मुक्तक शैली में लिखे गए दोहे, सवैये, घनाक्षरी कवित्त आदि छन्दों में निबद्ध रीतिकालीन अनुभूतियाँ जीवन की श्लथ, क्षीण, एकांगी प्रवृत्ति की परिचायिका भले ही हों परन्तु उनमें हृदय को बरबस खींच लेने की शक्ति है; इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

श्रृंगार के अतिरिक्त अन्य भाव की अभिव्यक्ति

रीतिकाल में श्रृंगार की प्रधानता रही, इसका यह तात्पर्य नहीं कि अन्य भावों और रसों से सम्बन्धित रचनायें हुईं ही नहीं। जिन कवियों को पूर्णतया श्रृंगारी करार दिया गया है उनके व्यक्तिगत जीवन में भी भक्ति भाव के लिए पर्याप्त स्थान था। राजदरबारों से दूर जब ये कवि लोकजीवन की प्रकृतधारा पर उतर आते थे; या जब कभी किसी घटना विशेष की प्रतिक्रिया इनकी मनस्थिति को झकझोर देती थी; या कृष्ण के रस रूप के अतिरिक्त जब ये कवि दुर्गा, शिव, सूर्य, गंगा, गणेश, सरस्वती आदि देवी देवताओं के प्रति आत्म-निवेदन करते थे तब उनके उद्गार भक्ति-भावना से ओत-प्रोत होकर निकलते थे। देव, बिहारी, भिखारीदास, बेनीप्रवीन,

पद्माकर आदि शृंगार के प्रसिद्ध और प्रमुख कवियों में भी भक्ति की भावना जीवन की पूर्ण सच्चाई के साथ देखी जा सकती है। चाहे वह परिस्थिति विशेष में मनस्थिति विशेष की परिचायक ही क्यों न हो।

वीररस की कविता

वीर-रस की कविता भी कम नहीं हुई। चण्डी, दुर्गा आदि शक्ति के प्रतीकों के विरद गानों में; महाभारत आदि वीरत्व प्रधान कृतियों के सम्पूर्ण या स्फुट प्रसंगों के अनुवादों में; अपने आश्रयदाताओं के कभी यथार्थ और कभी कल्पित शौर्य प्रदर्शनों में तथा वास्तविक लोकप्रिय हिन्दुत्व समर्थक ऐतिहासिक क्षत्रिय सामन्तों के चरित्र प्रकाशनों में, वीर रस की व्यंजना देखी जा सकती है यह दूसरी बात है कि इनमें से अधिकांश का वीरत्व और उसका प्रभाव सीमित क्षेत्रों में ही होने के कारण जनता के हृदय में स्थान और सम्मान न प्राप्त कर सका। अवध प्रदेश के अनेक छोटे वड़े रजवाड़े इसी कोटि में आते हैं। वे वीर थे। प्रायः युद्ध-रत भी रहते थे। किन्तु उनकी वीरता का प्रभाव सीमित क्षेत्रों में ही था। महाराज मानसिंह (द्विजदेव) अमेठी नरेश, गुरुदत्त सिंह (भूपति), रावमर्दन सिंह (डौंडियाखेरा), भगवन्तराय खीची (फतेहपुर) आदि नरपतियों के आश्रित कवियों ने ओज पूर्ण शैली में इनका वीरत्व गान किया।[1] हो सकता है कि यह गान अतिरंजित हो, परन्तु इनकी वैयक्तिक वीरता की अनेक स्थानीय जनश्रुतियों तथा सरकारी गजेटियरस, में प्रकाशित ऐतिहासिक घटनाओं को देखते हुए, उनके शौर्य तथा एतद्विपयक काव्य के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

रीतियुग के उत्तरार्द्ध में तो औरंगजेब की कट्टर धार्मिक नीति की प्रतिक्रिया स्वरूप समस्त हिन्दू नरेशों में वीरत्व की लहर दौड़ गई। महाराष्ट्र-केशरी शिवाजी, राजपूत शिरोमणि महाराज जसवन्तसिंह, बुन्देलखंड के अप्रतिम वीर छत्रसाल तथा सिक्खों के गुरु गोविन्द सिंह की वीरत्व पूर्ण शौर्य गाथायें वीररस प्रधान कविता में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। निश्चय ही इन वीरों का शौर्य जात्याभिमान की गौरव गरिमा से पूरित था। इसीलिए

---

१. देखिए—'किञ्जल्क' में संग्रहीत पं० व्रजकिशोर मिश्र का लेख।

इनकी यश गाथाओं को वाणी प्रदान करने वाले कवियों—भूषण, लाल, सूदन,—को हम विस्मृत नहीं कर सके। शैली की दृष्टि से ये कवि 'काव्य रीति' के बन्धन से मुक्ति नहीं पा सके; किन्तु विषय की दृष्टि से श्रृंगार की सरस धारा को त्याग और वीरत्व को ग्रहण कर, इन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपने लिए गौरवपूर्ण विशिष्ट स्थान की मांग की है और इतिहासकारों ने वह स्थान इन्हें प्रदान भी किया है।

रीतिकालीन कवियों को काव्य-रीति ही नहीं सीखनी पड़ती थी। लोक-जीवन का व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त करना पड़ता था। फलतः इन कवियों में लोक-जीवन की गहरी अनुभूतियाँ भी बिखरी मिलती हैं।

सूक्ति, नीति, हास्य और व्यंग्य

कहीं सूक्ति-कथन के रूप में, कहीं नीति-वाक्यों में; कहीं व्यंग्य रूप में और कहीं अन्योक्ति का आधार लेकर जीवन की व्यावहारिक सफलता के लिए अनेक विधि-निषेधों की ओर इन कवियों ने संकेत किया है। वृन्द, गिरधर, विहारी, दास, भूपति, मतिराम आदि कवियों के काव्यों में ये संकेत प्रचुर मात्रा में प्राप्त हैं। कहीं-कहीं तो अपने ही आश्रयदाता की किसी नीति और प्रवृति से असन्तुष्ट होकर इन कवियों को अन्योक्तियों का आधार लेना पड़ा है।

हास्य की दृष्टि से हिन्दी साहित्य समृद्ध नहीं कहा जा सकता। रीति-युग में भी सुरुचि पूर्ण एवं स्वस्थ हास्य की कमी खटकती है। राज्याश्रय में काव्य-विकास होने के कारण यद्यपि हास्य के लिए वातावरण की प्रतिकूलता तो नहीं थी फिर भी हास्यमयी रचनाओं का अभाव स्वीकार करना ही होगा। 'हास्य का समावेश या तो श्रृंगार रस के वर्णन में संचारी रूप में हुआ है या उसकी उद्भूति के लिए 'भड़ौवे' लिखे गए हैं। किन्हीं-किन्हीं कवि महोदय ने "षटमल बाईसी" आदि लिख कर अपनी मनोरंजन प्रियता एवं हास्य उद्भाविका शक्ति का परिचय दिया है; और यदि कभी किसी की बहुत दूर दृष्टि गई तो शिव के गणों के वर्णन या शिव-पार्वती के परस्पर हास्य-प्रसंग कल्पना के आधार पर परिहास खड़ा किया है। किसी-किसी कवि के भड़ौवे अच्छे बन पड़े हैं। इनमें भी प्रायः सूमों को ही हास्य का आलम्बन बनाया गया है।

उपयोगी साहित्य का सृजन रीतिकाल की एक विशिष्ट देन है। यद्यपि अभी तक यह सामग्री खोज रिपोर्टों या इधर-उधर राजकीय पुस्तकालयों में ही दबी पड़ी है। ज्योतिष, वैद्यक, संगीत, गणित तथा मनोरंजन के साधनों—शतरंज, गंजीफा आदि—का ज्ञान, यह सभी विषय रीतिकाल में काव्य के माध्यम से ही प्रकट किए जाते रहे। ज्योतिष में—सामुद्रिक, शकुन-परीक्षा, स्वप्न-परीक्षा आदि अनेक भेद प्रभेदों को लेकर ग्रंथ रचना हुई। वैद्यक में अश्वादि पशुओं के लिए शालिहोत्र लिखे गए। साथ ही वैद्य प्रिया, चिकित्सा दर्पण आदि नामों से मानव-चिकित्सा-शास्त्र रचे गए। गणित की पुस्तकों में प्रायः लीलावती के अनुवाद प्रस्तुत किए गए। या लोक प्रचलित 'हप्टा' इत्यादि के प्रश्नों को पद्य बद्ध किया गया। संगीत के ग्रथों में राग-रागिनियों के लक्षण दिये गए साथ ही उनकी बड़ी ही मधुर रूप-कल्पना भी की गई। जीवनोपयोगी इन ज्ञान धाराओं के अतिरिक्त ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी रचनायें भी रीतिकाल में कम नहीं हुई। वैराग्य-शतक भी लिखे गए। किन्तु इनमें मौलिकता का सर्वथा अभाव होने के कारण इनका कोई स्थायी प्रभाव न पड़ सका।

उपयोगी साहित्य

नाटक-साहित्य की दृष्टि से तो हिन्दी-साहित्य का रीतिकाल अतीव दरिद्र है। यद्यपि इस दरिद्रता के अनेक कारण हैं। जिनकी महत्ता स्वीकार करनी पड़ती है फिर भी ऐतिहासिक सत्य पर पर्दा नहीं डाला जा सकता। सारे रीति-साहित्य में नाटककारों के नाम पर दो चार इने-गिने व्यक्ति ही सामने आते हैं। रामायण महानाटक (सं० १६६७) के रचयिता प्राणचन्द चौहान; 'सभासार' नाटक (सं० १७५७) के कर्ता रघुराय नागर; 'करुणाभरण' नाटक (सं० १७७२) के प्रणेता लच्छिराम; 'समयसार नाटक' (सं० १६९३) के लेखक श्रीबनारसीदास तथा 'माया प्रपंच' नाटक के स्रष्टा महाकवि देव के अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेखनीय नाटककार दृष्टि में नहीं आता। ये नाटक भी केलव पद्य बद्ध सम्वाद मात्र हैं। इनमें नाटकीय तत्वों का अभाव है। ये कभी खेले भी नहीं गए। सामान्य जनता तो नाटकों के अभाव को रामलीलाओं, रास-रूपकों तथा सांगों से ही दूर करती रही।

नाटकों की कमी

वातावरण, प्रेरणा और प्रतिभा के अभाव में कथात्मक प्रवन्धों का प्रणयन भी रीति-युग में न हो सका। मुक्तकों की परम्परा ऐसी प्रचलित, प्रेरित, पोषित एवं प्रसरित हुई कि प्रवन्ध-कल्पना की ओर कवियों का ध्यान भी नहीं गया। रीतियुग के उत्तरार्द्ध में कुछ प्रवन्ध काव्य अवश्य लिखे गए। महाकवि दास, सूदन, गोरेलाल, गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मणिदेव, पद्माकर, महाराजा रघुराज सिंह, मधुसूदन दास, व्रजवासी दास, ललकदास तथा सवल सिंह चौहान आदि कुछ थोड़से प्रवन्धकार सामने आए। इनकी कृतियों में भी वर्णन की अधिकता होने से कथा का सन्तुलन नहीं रह सका है। प्रवन्ध-कल्पना जीवन की पूर्णता के अभाव में असम्भव है। रीतिकालीन कवियों का दृष्टिकोण एक-पक्षीय था इसीलिए प्रयत्न करने पर भी वे सुन्दर प्रवन्ध-काव्य न दे सके। प्रचार की दृष्टि से सबसे अधिक सफलता व्रजवासी दास और सवलसिंह चौहान को मिली। गोकुलनाथ, गोपीनाथ तथा मणिदेव के सम्मिलित प्रयत्न से सम्पूर्ण महाभारत अपनी विशाल कथात्मकता के साथ हिन्दी में अवतरित तो हुआ किन्तु अनाहूत अतिथि की भाँति उसे आदर न प्राप्त हो सका। सूदन का 'सुजान-चरित्र', लाल का 'छत्रप्रकाश', तथा पद्माकर की 'हिम्मत वहादुर विरुदावली' ऐतिहासिक आख्यान हैं। दासजी ने 'विष्णु पुराण' को दोहे और चौपाई में कथात्मकता प्रदान की, किन्तु उसका भी प्रचलन न हुआ। इसी प्रकार ललकदास जी ने अधूरी और महाराज रघुराज सिंह ने पूरी राम कथा वर्णन की किन्तु वर्णन की अधिकता और कथा सूत्रों के संगठन में सन्तुलन के अभाव ने इन्हें भी प्रवन्धकार न वनने दिया। प्रवन्ध काव्यों में स्थान रखने वाले कुछ प्रेमाख्यान भी लिखे गए जिनका परिचय यथा स्थान आगे चल कर दिया जायगा।

कथात्मक प्रवन्धों का ह्रास

रीतिकालीन कवियों की सौंदर्यानुभूति

सौंदर्यानुभूति आनन्द की भावना का प्रत्यक्षीकंरण है। भाव और रूप का सामंजस्य ही सौंदर्य की सृष्टि करता है। सामान्यतया सौंदर्यानुभूति के दो पक्ष हैं—पार्थिव और आध्यात्मिक। पार्थिव आनन्दानुभूति अपेक्षाकृत स्थूल एवं ऐन्द्रिय है। आध्यात्मिक अनुभूति का उदय तव होता है जव वस्तु को

सौंदर्य प्रदान करने वाले तत्त्व—रेखा, रंग, गति—द्रष्टा की मनस्थिति पर गहरा प्रभाव डालने में समर्थ होते हैं। सौंदर्यानुभूति के इन दोनों पक्षों को सर्वथा पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। सुन्दर वस्तु तथा उसके उपादानों एवं उपकरणों के सामूहिक प्रभाव को पृथक् नहीं किया जा सकता। इसीलिए सौंदर्य-शास्त्र सौंदर्यानुभूति को एक वास्तविक अनुभव मानकर चलता है जिसमें वस्तु से लेकर आत्मा के प्रभाव तक एक लम्बी प्रक्रिया होती है।[1]

सौंदर्यानुभूति और उसके दो पक्ष

आनन्द की भावना जीवन-विकास की मूल प्रवृत्ति है। सौंदर्य का आनन्द से अनिवार्य सम्बन्ध है। अतएव सौंदर्य-भावना का विकास भी जीवन-विकास के साथ होता आया है। विकास-क्रम की दृष्टि से मानव-जीवन, स्वच्छन्दता एवं सरलता से चलकर दिव्यता एवं आध्यात्मिकता को स्पर्श करता हुआ मर्यादा नैतिकता तथा व्यवस्था की गहरी रेखाओं से बँधता हुआ क्रमशः जटिलता तथा कृत्रिमता की ओर अग्रसर हुआ है। इसी क्रम से आनन्द की भावना में भी विकास होता आया है। फलस्वरूप हमारी सौंदर्य-भावना भी प्रकृतता, सरलता एवं स्वच्छन्दता की भूमि से चलकर दिव्यता एवं आध्यात्मिकता से प्रभावित होती हुई धर्म, व्यवस्था एवं मर्यादा में बँधती हुई क्रमशः कृत्रिमता एवं अलंकारिकता की ओर उन्मुख हो गई है।[2]

सौंदर्य-भावना और जीवन-विकास

काव्य-धारा, जीवन-धारा से अविच्छिन्न रही है। जीवन की आनन्दमयी भावना ही कवि-कल्पना में मूर्त होकर काव्य-सौंदर्य का विधान करती आई है। इसीलिए कवियों की सौंदर्यानुभूति जीवन-धारा से सदैव प्रभावित हुई है। रीतिकालीन हिन्दी-कवियों की सौंदर्यानुभूति भी इसका अपवाद नहीं है।

---

१. देखिये—'सौंदर्य-शास्त्र'—डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा, पृ० २२७

२. देखिये—'भारतीय सौंदर्य चिन्तन का क्रमिक विकास'—आलोचना, अंक ७, पृ० १३।

रीतिकालीन जन-जीवन में स्फूर्ति, प्रेरणा गति एवं उत्साह का सर्वथा अभाव है। उसमें आत्म-विस्मृति एवं पराजय की भावना सन्निहित है। जीवनदृष्टि संकुचित है। सर्वत्र मानसिक शैथिल्य के दर्शन होते हैं। इस युग में जीवन की मूलधारा का सम्बन्ध उस वर्ग विशेष से है जिसमें छोटे-छोटे सामन्त, राजा, रईस, अमीर और सरदार आते हैं। कम से कम काव्य के अन्तर्गत इसी वर्ग के जीवन की अभिव्यक्ति सर्वाधिक हुई है। इस वर्ग के क्रिया-कलाप उद्यानों एवं प्रासादों के अन्तर्गत ही सीमित थे। फलतः इनके जीवन-चित्रों को व्यक्त करते समय कवियों की दृष्टि भी नागरिक जीवन की कृत्रिमता तक ही सीमित रही। उनकी सौंदर्य-भावना का विस्तार न हो सका। न तो उसमें आदि युग की स्वच्छन्दता एवं सरलता के दर्शन होते हैं न वैदिक युग की दिव्यता का आभास ही मिलता है। रामायण काल की नैतिकता तथा महाभारत युग की संघर्ष-भावना भी उसमें नहीं मिलती। उसकी सीमायें विलास वैभव तथा रति को उद्दीप्त करने वाले विविध विभावों के चित्रण तक ही विस्तार पा सकी हैं। सामान्यतः हम रीतियुगीन कवियों की सौंदर्यानुभूति में निम्नलिखित विशेषतायें लक्ष्य कर सकते हैं। (१) शारीरिक रूप-वर्णन की प्रधानता (२) वैभव विलास के संकेत (३)नैसर्गिक सौंदर्य का ह्रास तथा अलंकरण की प्रधानता (४) सौंदर्य-विधान में परम्परा पालन की प्रवृत्ति (५) सामन्तीय जीवन की रंगीनियाँ।

रीतियुगीन जीवन, काव्य और सौंदर्यानुभूति

रीतियुगीन कवियों ने रूप एवं भाव के सामंजस्य पर बल न देकर केवल शारीरिक अंग-प्रत्यंगों के वर्णन में ही सौंदर्य की अनुभूति को सीमित कर दिया है। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ गई थी कि कृष्ण के सौंदर्य-वर्णन में भी कवि-दृष्टि आगिंक चेष्टाओं पर ही टिकी रह गई है। उदाहरणार्थ मतिराम का कृष्ण-सौंदर्य चित्रण देखिये—

शारीरिक रूप-वर्णन की प्रधानता

मोर पखा मतिराम किरीट में, कण्ठ बनी बन माल सोहाई।
मोहन की मुसुकानि मनोहर, कुंडल डोलनि में छवि छाई॥

लोचन लोल विसाल विलोकनि को न विलोकि भयो वस आई।
वा सुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अँखियान लुनाई ॥[1]

यही स्थिति राधा की भी थी। उनका सौंदर्य भी शरीरी एवं माँसल ही चित्रित किया गया। भक्त कहे जाने वाले प्रेमी कवि रसखानि भी उनकी 'टाँक सी लाँक' तथा 'तिरछानि अँखियाँ' ही देखते रहे—

बाँकी मरोर गही भृकुटीन लगीं अँखियाँ तिरछानि तिया की।
टाँक सी लाँक भई रसखानि सुदामिनि तें दुति दूनी हिया की ॥
सोहै तरंग अनंग की अंगनि ओप उरोज उठी छतिया की।
जोवन-जोति सु यौं दमकै उसकाइ दई मनौ बाती दिया की ॥[2]

वैभवविलास के संकेत

रीति-युग का कदाचित ही कोई सौंदर्य-वर्णन वैभव-विलास के संकेत से मुक्त हो। विहारी देव, मतिराम आदि सभी प्रमुख कवियों ने विलासमय वातावरण को सजीव करने की पूर्ण चेष्टा की है। कहीं-कहीं यह वातावरण प्रकृति के उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आने वाले चित्रों का आधार लेकर सजीव किया गया है। प्रकृति के मधुर क्रिया-कलापों के साथ समानान्तर चलने वाली नायक-नायिका की चेष्टायें मनोवेगों को झकझोर देती हैं। 'देव' का एक क्रीड़ा-विलास देखिये—

सहर-सहर सोंधो, सीतल समीर डोलै,
घहर-घहर घन घेरि कै घहरिया।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायो 'देव',
छहर-छहर छोटी बूँदनि छहरिया ॥
हहर-हहर हँसि-हँसि कै हिंडोरे चढ़ी
थहर-थहर तनु कोमल थहरिया।
फहर-फहर होत पीतम को पीत पट,
लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया ॥[3]

---

१. प्रकृति और हिन्दी काव्य, पृ० ३१२
२. रसखानि ग्रन्थावली, पृ० १८
३. 'देव और विहारी, पृ० ११८

ऐसा प्रतीत होता है कि नायक-नायिका की विलास चेष्टाओं के साथ प्रकृति अपनी कोमलता, सुकुमारता एवं मधुरता मिला देना चाहती है। कितना अच्छा होता यदि कवि की यह सौंदर्य-भावना नायक-नायिका की चेष्टाओं को अपना लक्ष्य न बनाकर प्रकृति की नैसर्गिक छटा का उद्‌भावन कर सकी होती।

हिन्दी के रीति-कालीन कवि नैसर्गिकता में सौंदर्य की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। रसिक शिरोमणि केशव बहुत पहले ही 'देखे मुख भावैं अनदेखेई कमलचन्द' की घोषणा कर चुके थे। अब 'शैवल से अनुविद्ध सरसिज' तथा 'कलंक से मलिन हिमांशु' के प्रकृत सौंदर्य का सादृश्य लेकर वल्कल-धारिणी वनवासिनी शकुन्तला के सौंदर्य की पावन अनुभूति की कल्पना अतीत की वस्तु बन गई थी।

नैसर्गिक सौंदर्य का ह्रास तथा अलंकरण की प्रधानता

रीति-युग में सोलहों शृंगार एवं बत्तीसों आभरण के अभाव में नारी-सौंदर्य सार्थक नहीं हो सकता था। अंग-अंग में नगों की जगमगाहट से घर में दीपक जलाने की आवश्यकता नहीं रह गई थी।[1] और कभी-कभी तो स्फटिक-शिला-निर्मित सौध के समुज्ज्वल फर्श पर सुन्दरी सखियों के बीच में अलंकरणों से जगमगाती हुई नायिका का शुभ्र आकाश में झिलमिलाते हुए तारकों के बीच में प्रकाशित चन्द्रमण्डल प्रतिबिम्ब बन जाता था। देखिए—

फटिक-सिलान सों सुधारयो सुधा-मन्दिर
 उदधि-दधि को सो अधिकाई उमगै अमंद;
बाहेर ते भीतर लौं भीति न दिखैये 'देव',
 दूध-कैसो फेनु फैलो आँगन-फरस बंद।
तारा-सी तरुनि तामें ठाढ़ी झिलमिलि होति,
 मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरन्द;
आरसी से अम्बर में आभा-सी उज्यारी लागै,
 प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब-सो लगत चंद ॥[2]

---

१. अंग अंग नग जगमग, दीप-सिखा-सी देह।
 दिया बढ़ाएँ हूँ रहै, बड़ो उजारो गेह॥ —बिहारी

२. 'देव और बिहारी'—पृ० १०६

सौंदर्य-विधान में परम्परा-पालन की प्रवृति

रीति-युगीन कवियों ने सौंदर्य-विधान में किसी मौलिक उद्भावना का परिचय नहीं दिया है। प्रत्यक्ष दृश्य के सौंदर्य का वोध कराने के लिए उपमान ढूंढ़ते समय प्रायः प्राचीन कवियों द्वारा प्रयुक्त एवं काव्य-परम्परा में प्रचलित उपमानों को ही ग्रहण किया गया है। चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण कहीं-कहीं ये उपमान अनौचित्य पूर्ण भी हो गए हैं। अंगों के वर्णन में इस ओर तो ध्यान दिया गया है कि कोई अंग छूट न जाय किन्तु सौंदर्य-चित्र प्रायः स्थूल ही हैं। सभी अंगों के समन्वित सामंजस्य-पूर्ण और सामूहिक सौंदर्य का गतिशील रूप वहुत ही कम प्रत्यक्ष किया गया है। वाल, नेत्र, कटि, आदि कुछ विशिष्ट अंगों के वर्णन में अतिशयोक्ति से अधिक काम लिया गया है। नेत्रों के लिए मृग, चकोर, मीन, भ्रमर, खंजन, कमल आदि परम्परागत प्रसिद्ध उपमानों को ही ग्रहण किया गया है और कहीं-कहीं तो इनकी योजना एक साथ ही एक ही स्थान पर कर दी गई है।[1] इसी प्रकार अन्य अंगों का वर्णन तथा उनके लिए अप्रस्तुत दृश्य-योजना भी प्रायः प्राचीन परिपाटी पर ही हुई हैं।

रीतिकाल की सौंदर्य-भावना में सामन्तीय जीवन की झलक स्पष्टतया देखी जा सकती है। कवि की दृष्टि नागरिक सभ्यता के कृत्रिम उपकरणों तक ही सीमित है। वह राज-प्रासादों एवं राज-उद्यानों में सौंदर्य के कृत्रिम प्रसाधनों में ही उलझकर रह गई है। रंग-महल के आँगन में कन्दुक-क्रीड़ारत

---

१. चंद्रमुखि, तेरे चपचितै चकि, चेति चपि
 चित चोरि चले सुचि साचनि डुलत हैं।
सुदंर, सुमंद सविनोद, 'देव' सामोद,
 सरोष संचरत, हाँसी-लाज विलुलत हैं॥
हरिन, चकोर, मीन, चंचरीक, मैन-वान,
 खंजन, कुमुद, कंज-पुंजन तुलत हैं।
चौंकत, चकत, उचकत औ छकत, चले
 जात, कलोलत संकलत, मुकुलत हैं॥
—देव और विहारी, पृ० १८०

लहलहे अंग वाली नायिका को रावटी की ओट में छिपकर झरोखे से झाँककर देखने में ही कवि अपने नेत्रों को धन्य मानता रहा है।[1] प्रकृति के मोहक सौंदर्य की सूक्ष्म अनुभूति उसके मानस में उद्भावित नहीं होती। मणि, माणिक, हीरे और मोतियों की झालर से सुशोभित; जल-यंत्रों से निःसृत जल-सीकरों से सिञ्चित; स्वच्छ चादरों से सज्जित; राज-प्रासाद के वैभव-विलास में उसकी प्रवृत्ति अधिक रमी है। रीति-युग के कवि के सौंदर्य-चित्रों में सामन्तीय जीवन की यही रंगीनियाँ उभर आई हैं।[2] उसे मृदंग की मन्द-मधुर ध्वनि, राग-रंग की तरंग, शत-शत दीपकों के प्रकाश, तथा धूप, अगर, चोवा-चन्दन और घनसार के वर्णन-विस्तार में ही आनन्दोपलब्धि हुई है।[3]

सामन्तीय जीवन की रंगीनियाँ

उपर्युक्त विवेचन का यह तात्पर्य नहीं कि रीतियुगीन सौंदर्यानुभूति के अन्तर्गत प्रभावोत्पादक एवं मनोरम तत्वों का सर्वथा अभाव है या इस युग के कवियों में सौंदर्य के शाश्वत रूप की परख है ही नहीं। रीति-युग के कवि

---

१. आओ ओट रावटी, झरोखा झाँकि देखौ, देव,
देखिवे को दाँव फेरि दूजे धौस नाहिने।
लहलहे अंग, रंग-महल के आँगन में
ठाढ़ो वह वाल लाल, पगन उपाहने॥
× × ×
वाम कर वार, हार, अँचर सम्हारै, करै
कैयो फन्द, कन्दुक उछारै कर दाहिने।
—देव और विहारी, पृ० २३२

२. चाँदनी महल वैठी चाँदनी के कौतुक को
चाँदनी सी राधा विछी चाँदनी विशाल रै।
× × ×
छूटत फुहारैं वै अमल जल झलकत
चमकैं चँदोवा मणि माणिक महालरैं।
वीच जरतारन की हीरन की जगमगी
ज्योतिन की मोतिन की झालरैं॥
(हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण, पृ० २३५)

३. देखिये 'देव और विहारी' पृ० १३०

सौंदर्य-विधान एवं रूप-कल्पना करने में पूर्ण समर्थ थे। रीतिकाल में ध्वनि को रूप देने का सुन्दरतम प्रयत्न हुआ है। 'राग माला' नाम से प्रचलित इस युग के चित्र वस्तुतः राग-रागिनियों की मूर्त-कल्पना ही हैं। 'देव' ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'राग-रत्नाकर' में सभी रागिनियों की बड़ी ही सुन्दर एवं भव्य रूप-कल्पना की है। गुण, अवस्था, जाति, वय आदि के आधार पर नायिकाओं का चित्रण भी रीतियुगीन सौंदर्य एवं रूप-कल्पना का द्योतन करता है। इन चित्रों में कवि एवं चित्रकार की कल्पना-शक्ति का अद्‌भुत सामंजस्य लक्षित होता है। इन रागनियों एवं नायिकाओं के सौंदर्यांकन में राजपूत एवं मुगल सौंदर्यानुभूतियाँ एक साथ सजीव हुई हैं। कुसुमित वृक्षों की छाया में राजपूत सुन्दरियों को परसियन रूपसियों के परिधान में अंकित करके ही रागिनियों एवं नायिकाओं की प्रत्यक्षानुभूति कराई गई है।[1] ये चित्रण बड़े ही रमणीय हैं। साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि रीतियुगीन सौंदर्यानुभूति में स्वच्छन्दता एवं सरलता, आध्यात्मिकता एवं दिव्यता, व्यापकता एवं विराटता का अभाव है। अनुभूति का क्षेत्र सीमित है। सौंदर्यांकन के उपादान कृत्रिम हैं। उनके माध्यम से अभिव्यक्त जीवनधारा अलसाई हुई है। उसमें पराजय की झलक किन्तु संघर्ष-भावना का अभाव है। यह स्थिति मानव-सौंदर्य एवं प्रकृति-सौंदर्य दोनों की ही है। कुछ प्राकृतिक दृश्यांकनो के अतिरिक्त सेनापति की सौंदर्यानुभूति भी इन्हीं विशिष्टताओं से समन्वित है।

निष्कर्ष

भक्ति-कालीन काव्य धाराओं का रीतियुगीन स्वरूप

ऊपर दिया हुआ रीतिकाल का संक्षिप्त परिचय अधूरा ही रह जायगा यदि हम भक्ति-कालीन काव्य के प्रमुख स्रोतों के रीतियुगीन स्वरूप से परिचय न प्राप्त करेंगे। काव्य के स्रोत अनुकूल परिस्थितियों में उद्‌भूत, स्रवित एवं विकसित होने पर पुनः प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सर्वथा सूख नहीं जाते। इस सामान्य नियम की सत्ता हिन्दी साहित्य के अंतर्गत भी विद्यमान

---

[1] "The Raginis and Nayikas are Rajput ladies sitting like Persian maidens under overhanging branches of blossoming trees., (Influence of Islam on Indian Culture, page 273)

है। भक्ति-युग में भक्ति के दो प्रमुख रूपों—निर्गुण, सगुण—की चार शाखाओं—ज्ञानाश्रयी, प्रेममार्गी, कृष्ण भक्ति और राम भक्ति—का जो सतत प्रवाह प्रवाहित हुआ था वह रीति-युग में भी चलता रहा। उसकी परम्परा लुप्त नहीं हुई। हाँ उसके महत्त्व में हीनता, स्वरूप में शिथिलता तथा प्रभाव में स्थानीयता अवश्य आ गई।

'कबीर' से प्रारम्भ हिन्दी प्रदेश की सन्त-परम्परा रीति-युग में भी चलती रही। इस परम्परा में—मलूकदासजी (सं० १६३१), दादू दयाल (१६५८), वीरभान (१६६०), धरणीदास (१६७३), लालदास (१७००), बाबालाल (१७००) हरिदास (१७००), प्राणनाथ (१७१०), सुन्दरदास (१७१०),

सन्त काव्य

यारीसाहब (१७२४), दरियासाहब (बिहार वाले १७३१), दरिया साहब (मारवाड़ वाले १७३३), बुल्ला साहब (१७५०), गुलाल साहब (१७५०), चरनदास (१७६०), अक्षर अनन्य (१७६७), भीखा साहब (१७७०), गरीबदास (१७७४), जग जीवनदास (१७७५), रामचरण (१७५०), दूलनदास (१७८०), शिवनारायण (१७८१), दयाबाई; सहजोबाई (१८००), तुलसी साहब (१८४५), पलटूदास (१८५०), गाजीदास (१८७७) आदि अनेक निर्गुण सन्त हुए। श्रृंखला के इस क्रमबद्ध विकास में पर्याप्त परिवर्तन हो गया था। इनकी वाणी में कबीर की उग्रता न थी। विरोध का स्वर मन्द पड़ गया था। आत्मविश्वास की कमी थी। समन्वय की प्रवृत्ति बढ़ रही थी किन्तु उसके नाम पर अनुकरण होने लगे थे। ये हिन्दू धर्म के सामान्य विश्वासों के निकट आ रहे थे। अवतारवाद को स्वीकार करने लगे थे। इनकी भी स्वतंत्र पूजा पद्धतियाँ विकसित हो चुकी थीं जो पर्याप्त जटिल थीं। इनका प्रभाव स्थानीय रह गया था। सन्त परम्परा अनेक सम्प्रदायों में बिखर गई थी।

प्रेमाश्रयी भक्ति परम्परा भी प्रेमाख्यानों के रूप में रीति-काल में जीवित रही। उसमान की 'चित्रावली', आलम का 'माधवानल भाषाबन्ध' (सं० १६४०), पुहकर कवि का 'रसरतन' (१६७५), शेखनबी का 'ज्ञानदीप' (१६७६), काशीराम की 'कनक मञ्जरी' (१७२०), कुशल लाभ का 'ढोला मारुरा दोहा',

दुःखहरनदास की 'पुहुपावती' (१७२६), सूरदास का 'नलदमन' (१७३०), काशिम शाह का 'हंस जवाहर' (१७८८), निगम कायस्थ की 'मधुमालती', धरणीदास का 'प्रेम परगास' हरसेवक मिश्र की 'कामरूप की कथा' (१८०१), फाजिल शाह का 'प्रेमरतन' (१९०५) आदि अनेक रचनायें प्रेम के पीर की मार्मिक व्यन्जना करती रहीं। इन सभी प्रेमाख्यानक काव्यों में भी कई प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही थीं। प्रायः मुसलमान लेखकों द्वारा लिखी हुई प्रेम कथायें आध्यात्मिक प्रेम-प्रतीकों तथा सूफी सिद्धान्तों को लेकर चल रही थीं। हिन्दुओं की प्रेमगाथायें अधिकांश शुद्ध प्रेमाख्यान मात्र थीं। इसके अतिरिक्त दुःखहरनदास की 'पुहुपावती' और धरणीदास का 'प्रेमपरगास' सन्तों द्वारा विरचित हुए। अतः स्पष्ट है कि रीतियुग में सन्तों ने भी प्रेमाख्यानक रचना आरम्भ कर दी थी। दुःखहरनदास की 'पुहुपावती' शैली की दृष्टि से पद्मावत की परम्परा में होते हुए भी विषय की दृष्टि से सन्तमत की वातों का प्रेमाख्यान के माध्यम से प्रचार करने के कारण एक नूतन परम्परा को जन्म देती है। वस्तुतः रीति-युग में भौतिक-प्रेम की सरस धारा इतनी विस्तृत हो चुकी थी कि इस आध्यात्मिक प्रेम-पीर की ओर लोगों ने ध्यान ही नहीं दिया। इन प्रेमाख्यानों ने प्रवन्ध काव्यों की परम्परा को जीवित रक्खा।

प्रेमाख्यान

'अष्टछापी' कृष्ण-काव्य-कारों एवं भक्तों के बाद भी कृष्ण-काव्य-परम्परा चलती रही। रीति-युग में यद्यपि सारा शृंगार-प्रधान काव्य ही राधा और कन्हाई के सुमिरन का बहाना बनकर आया फिर भी कुछ ऐसे भक्त कवियों का आविर्भाव हुआ जो सच्चे अर्थों में कृष्ण-भक्त थे। यही नहीं प्रसिद्ध वल्लभ-सम्प्रदाय के अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति से प्रेरित अन्य सम्प्रदायों का प्रवर्तन भी हुआ। इन सम्प्रदायों में हितहरिवंश जी (सं० १६२२) का **'राधा वल्लभीय सम्प्रदाय'** और स्वामी हरिदास का **'टट्टी सम्प्रदाय'** अधिक प्रसिद्ध हुए। राधावल्लभीय सम्प्रदाय में व्यासजी (१६२२), ध्रुवदासजी (१६८२) तथा रसिकदासजी (१७००) प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त हुए। वल्लभ सम्प्रदाय में हरिदास जी

कृष्ण-काव्य

का विशेष नाम हुआ। इनके अतिरिक्त गोविन्ददास (१६४०), नरहरी (१६५०), हरिवल्लभ (१७००) आदि अनेक कृष्ण-भक्त हुए जिनका सीधा संबंध किसी सम्प्रदाय विशेष से नहीं था। सभी सम्प्रदायों और बन्धनों से परे केवल प्रेम-तत्व को ही महत्व देने वाले भक्त शिरोमणि 'रसखान' के उल्लेख की आवश्यकता नहीं। कृष्ण-काव्य की इस परम्परा के विकास क्रम पर ध्यान देने से ऐसा लगता है कि रीतियुग के प्रस्तावना काल में तो यह अपना विकास करता रहा किन्तु आगे चलकर रीतियुग की परम्पराओं की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने पर साम्प्रदायिक कृष्ण-भक्ति की प्रेम-व्यंजना, और भौतिक शृंगार का कृष्ण-राधा को आश्रय-आलम्बन मानकर चलने वाला सुमिरन का बहाना, दोनों भावना की दृष्टि से एकाकार हो गए।

राम-काव्य-परम्परा भी रीति-युग में जीवित रही। तुलसी के बाद केशव और तत्पश्चात् सेनापति के राम-काव्यों से तो सभी का परिचय है। इसके बाद भी यह परम्परा अखण्ड रूप से चलती रही। राम काव्यकारों में क्रमशः हृदयराग (सं० १६२३), प्राणचन्द चौहान (१६६७), लालदास (सं० १७००), रामप्रिया शरण (१७६०), जानकीरसिक शरण (१७६०), कलानिधि (१७६९), महाराजा विश्वनाथ सिंह रीवां-नरेश (सं० १७९०), रामचरण दास (१८३६), कृपानिवास (१८४३), भगवानदास खत्री (१८५७), परमेश्वरीदास (१८६०-१९१२), रामगुलाम द्विवेदी (१८७०), जानकी चरण (१८७७), जीवाराम (१८८७), जनकलाड़िली शरण (१९००), जनक राजकिशोरी शरण (१९००), रघुवर शरण (१९०७), गिरधरदास (१८९०), उल्लेखनीय हुए। अतिरिक्त, अन्य अनेक छोटे-बड़े कवि भी राम सम्बन्धी छोटी-छोटी रचनायें करते रहे। रीतिकाल में राम-काव्य का स्वरूप भी बदल गया। उस पर कृष्ण-काव्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। राधा और कृष्ण की युगल उपासना की भाँति सीता और राम की भी युगल उपासना होने लगी। 'ब्रजधाम' की तरह 'साकेतधाम की' कल्पना की गई। राम की अनेक सखियों की कल्पना भी की गई। श्रीरामचन्द्र और सीता का अष्टयाम-वर्णन किया जाने लगा। उनके मर्यादा-रूप को छोड़

राम-काव्य

कर भक्तों ने लीला-रूप की कल्पना की। फलस्वरूप सीता और राम के विहार, नृत्य और रास की कल्पना हुई। विशेषकर अयोध्या के भक्तों ने इसमें अधिक रुचि दिखाई। 'अवधीसागर' के रचयिता 'श्री जानकी रसिकशरणजी', 'अष्टयाम' के रचयिता श्री जीवाराम (युगल प्रिया), श्री जनकराज किशोरी शरण (रसिक अली) तथा श्री 'जनकलाड़िली शरणजी' ने राम-काव्य को अक्षरशः कृष्ण-काव्य के आधार पर विस्तृत किया।

संक्षेप में हिन्दी-साहित्य के रीति-काव्य और काव्य-रीति का प्रायः ३०० वर्षों का यही स्वरूप है। इसी पृष्ठ-भूमि में, इन्हीं प्रभावों और प्रवृत्तियों की छाया में समस्त रीतियुगीन काव्य प्रतिभाओं का विकास हुआ था। अतः किसी भी रीतियुगीन कवि को समझने के लिए इस पीठिका से परिचय प्राप्त करना अनिवार्य है। आगे के पृष्ठों में हम रीति-काव्य के एक प्रमुख कवि सेनापति की काव्य-प्रतिभा से परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे।

उपसंहार

सेनापति

जीवन वृत्त

सेनापति का काव्य-काल रीति-युग के प्रारम्भ में आता है। इसे हम रीति-युग का प्रस्तावना काल कह आए हैं। इस युग तक 'रीति-काव्यों' की परम्परा चल चुकी थी। लक्षण और लक्ष्य एक ही स्थान पर जुटाये जाने लगे थे, परन्तु अभी इस प्रवृत्ति को पूर्ण विस्तार नहीं प्राप्त हुआ था। भक्ति-काव्यों का प्रचलन अब भी था। 'शृंगार' की धारा आध्यात्मिकता की उच्च भाव-भूमि को छोड़कर जीवन की प्रकृति-भूमि पर उतर रही थी। प्रतिभाशील कवि भक्ति का व्यामोह पूर्णतया नहीं छोड़ पाये थे यद्यपि वे शृंगार की ओर उन्मुख थे। सेनापति का व्यक्तित्व भी कुछ इसी प्रकार का था। उनके काव्य में भी शृंगार और भक्ति दोनों की धारायें वेगवती हैं। पहले इसके कि हम कवि के काव्य की अन्तर्धारा का विश्लेषण करें, उसके जीवन-वृत्त का संक्षिप्त परिचय अप्रासंगिक न होगा।

नाम—सेनापति की वास्तविक संज्ञा क्या थी? यह आज तक अज्ञात है। 'सेनापति' उनका कविता का नाम है। उपनाम से ही प्रख्यात होने का गौरव 'भूषण' की भाँति सेनापति को ही प्राप्त है।[1]

वंश परिचय—सेनापति ने 'कवित्त-रत्नाकर' की पहली तरंग, छंद ५ में अपना वंश परिचय स्वयं दिया है।[2] उसके अनुसार आप दीक्षित कुल में

---

१. रीतियुगीन साहित्य के विश्रुत पारखी पं० कृष्णबिहारी मिश्र 'सेनापति' संज्ञा का आधार कवि का सैनिक होना मानते हैं। उसकी पुष्टि के लिए वे 'कवित्त-रत्नाकर' की पाँचवीं तरंग के तेंतीसवें छन्द की ओर संकेत करते हैं। 'पाइक मलेच्छन के काहे कौं कहाइयै' से वे यह अर्थ ग्रहण करते हैं कि "मुसलमान सामन्तों का पायक (पैदल सैनिक) क्यों बना जाय?"

२. दीक्षित परसराम, दादौ है विदित नाम,
जिन कीने जज्ञ, जाकी जग मैं बड़ाई है।
गंगाधर पिता, गंगाधर कौ समान जाकौं,
गंगा तीर बसति अनूप जिन पाई है ॥

उत्पन्न हुए थे। आपके पितामह का नाम परशुराम दीक्षित था। आपके पिता का नाम गंगाधर था।

गुरू—उसी छन्द के साक्ष्य के अनुसार आपके गुरु का नाम हीरामणि दीक्षित था। इन्हीं महानुभाव से आपने पाण्डित्य प्राप्त किया था।

जन्म-स्थान—कहा जाता है कि आपका जन्म-स्थान वुलन्दशहर जिले का एक प्रसिद्ध कस्बा अनूपशहर था। प्रमाण में उपर्युक्त छन्द की ही यह पंक्ति—गंगातीर वसति अनूप जिन पाई है—उपस्थित की जाती है। यह कोई ठोस और उचित साक्ष्य नहीं ज्ञात होता। उपर्युक्त पंक्ति में 'अनूप' शब्द विशेषण-रूप में भी लिया जा सकता है। ऐसी स्थिति में 'अनूप वसति' से अनूप शहर का ही तात्पर्य क्यों और कैसे लिया जा सकता है?

'वुलन्द शहर गजेटियर' में अनूपशहर का जो विवरण उपलब्ध है उसके आधार पर भी सेनापति का उससे कोई सम्वन्ध नहीं स्थापित होता। गजेटियर के अनुसार वादशाह जहाँगीर ने संवत् १६१० में राजा अनूपसिंह वड़गूजर को अनूपशहर का परगना वखशीस में दिया था, क्योंकि अनूपसिंह ने वादशाह की एक चीते से रक्षा की थी। अनूपसिंह की पाँचवीं पीढ़ी में तारासिंह और मावोसिंह में अनूपशहर परगने का वटवारा हुआ। अनूपशहर तारा सिंह को मिला। ऐसी स्थिति में अनूपशहर से सेनापति का सम्वन्ध जोड़ना एक अनुमान मात्र है। क्योंकि यदि यह सेनापति के पिता को दिया गया होता तो वटवारे का प्रश्न न उठता।

सेनापति के उल्लेखनीय सम्वन्ध—सेनापति का किसी राजदरवार से सम्वन्व था, इसके लिए भी कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। सेनापति की कृतियों में ही ऐसे दो प्रसंग आए हैं जिनके आधार पर यह कहा जाता है कि 'सेनापति का सम्वन्व या तो सूर्यवली नामक किसी व्रजप्रदेश के निकटवर्ती

महा जानि मनि, विद्यादान हू कौं चिंतामनि,
हीरामनि दीक्षित तैं पाई पंडिताई है।
सेनापति सोई, सीतापति के प्रसाद जाकी,
सव कवि कान दै सुनत कविताई है॥

राजा से था या किसी मुसलमानी राज दरबार से। प्रथम अनुमान का आधार सेनापति की यह पंक्ति है—

"सूर वली वीर जसुमति कौं उज्यारो लाल
चित्त कौं करत चैन वैनहि सुनाइ कै।"

कहीं-कहीं 'सूर वली वीर' के स्थान पर 'सूर वल वीर' भी पाठ है। श्री उमा-शंकर जी शुक्ल ने इसके आधार पर अनुमान लगाया है कि इस राजा का नाम वलवीर अथवा वीरवल रहा होगा। द्वितीय अनुमान के लिए 'रामरसायन' की निम्नलिखित पंक्ति उद्धृत की गई है—

चारि वरदानि तजि पाइ कमलेच्छन के,
पाइक मलेच्छन के काहे कौं कहाइयै।

इससे यह तो व्यञ्जित होता ही है कि कवि विष्णु के चरणों में प्रीति करना, मुसलमानों के सेवक होने से, अधिक श्रेयस्कर मानता है, किन्तु पूरे छन्द को देखने पर कवि का सम्बन्ध किसी मुसलमान सम्राट से था, ऐसा नहीं प्रतीत होता। छन्द तो यह कहता है कि आधी आयु तो इसी रूप में व्यतीत हो गई अब शेष आयु के लिए दुर्जनों के दर्शन से क्या फायदा? सम्भव है किसी ने सेनापति को राजाश्रय में जाने की सम्मति दी हो और उन्होंने उसके उत्तर में यह उक्ति कही हो।

राजाश्रय प्राप्त होने का एक अन्य संकेत भी 'कवित्त-रत्नाकर' में मिलता है।

सुनु महाजन चोरी होति चारि चरन की
तातैं सेनापति कहै तजि करि व्याज कौं।
लीजियौं बचाइ ज्यौं चुरावै ताहि कोई सौंपी
वित्त की सी थाती कवित्तन की राज कौं॥[1]

इस छन्द के आधार पर 'कवित्त-रत्नाकर', के सम्पादक श्री उमाशंकरजी शुक्ल का अनुमान है कि 'कवित्त-रत्नाकर' को उन्होंने किसी राजा को समर्पित किया

१. प्रथम तरंग, छन्द १०

था और उससे इस बात की प्रार्थना की थी कि वह उनकी कविता को सुरक्षित रखे। शुक्लजी का यह अनुमान भी उचित नहीं जँचता। जिस प्रसंग में कवि ने यह काव्यार्पण किया है वहाँ किसी प्राकृत राजा की ओर संकेत नहीं जान पड़ता। वहाँ तो ऐसा लगता है कि कवि अपने आराध्यदेव को ही अपनी कविता समर्पण कर रहा है।

कविता काल—स्वयं कवि के साक्ष्य के अनुसार उसका प्रसिद्ध ग्रंथ 'कवित्त-रत्नाकर' संवत् १७०६ में सम्पूर्ण हुआ।[1] यह कवि की प्रौढ़ कृति है। निश्चय ही इसकी रचना कवि ने जीवन की प्रौढ़तम अवस्था में की होगी। इसमें कवि के वृद्ध होने का संकेत भी मिलता है। मिश्र-बन्धुओं ने इसी आधार पर इनका जन्म समय सं० १६४६ के आस पास माना है।

रचनायें—सेनापति की केवल एक रचना 'कवित्त-रत्नाकर' प्रकाश में आई है। कहा जाता है कि 'काव्य-कल्पद्रुम' नामक इनकी एक अन्य कृति भी है। अभी तक इसका कोई उल्लेख खोज-रिपोर्टों में भी नहीं मिलता। विद्वानों का अनुमान है कि यह काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ रहा होगा और इसमें कवि ने लक्षण और उदाहरण की परिपाटी का पालन भी किया होगा। जो भी हो, कवि की एक ही रचना उसकी काव्यत्व-शक्ति की पूर्ण परिचायिका है।

कवित्त-रत्नाकर में कुल पाँच तरंगें हैं। प्रथम तरंग में 'श्लेष-वर्णन' है। यह तरंग ९६ छन्दों में समाप्त हुई है। द्वितीय तरंग में 'श्रृंगार-वर्णन' है। कवित्त संख्या ७४ है। तीसरी तरंग में 'ऋतु-वर्णन' है। रीतिकालीन कवियों में सेनापति अपने 'ऋतु-वर्णन' के लिए प्रसिद्ध हैं। इस तरंग में छन्द संख्या ६२ है। चौथी तरंग में 'रामकथा' वर्णित है। कवि ने कथा का क्रमिक विकास नहीं दिखाया है। स्फुट प्रसंगों का ही वर्णन किया है। प्रसंग भी रुचि के अनुकूल प्रायः ओज पूर्ण लिए गए हैं। छन्द संख्या ७६ है। पाँचवी तरंग में कवि ने राम-भक्ति का परिचय दिया है। तरंग का नाम ही उसने 'रामरसायन-

---

१. संवत सत्रह सै छ में, सेइ सियापति पाइ।
सेनापति कविता सजी, सज्जन सजौ सहाइ॥
(पाँचवी तरंग, छंद ८६)

राजा से था या किसी मुसलमानी राज दरबार से। प्रथम अनुमान का आधार सेनापति की यह पंक्ति है—

"सूर बली बीर जसुमति कौं उज्यारौ लाल
चित्त कौं करत चैन बैनहिं सुनाइ कै।"

कहीं-कहीं 'सूर बली बीर' के स्थान पर 'सूर बल बीर' भी पाठ है। श्री उमा-शंकर जी शुक्ल ने इसके आधार पर अनुमान लगाया है कि इस राजा का नाम बलबीर अथवा बीरबल रहा होगा। द्वितीय अनुमान के लिए 'रामरसायन' की निम्नलिखित पंक्ति उद्धृत की गई है—

चारि बरदानि तजि पाइ कमलेच्छन के,
पाइक मलेच्छन के काहे कौं कहाइयै।

इससे यह तो व्यञ्जित होता ही है कि कवि विष्णु के चरणों में प्रीति करना, मुसलमानों के सेवक होने से, अधिक श्रेयस्कर मानता है, किन्तु पूरे छन्द को देखने पर कवि का सम्बन्ध किसी मुसलमान सम्राट से था, ऐसा नहीं प्रतीत होता। छन्द तो यह कहता है कि आधी आयु तो इसी रूप में व्यतीत हो गई अब शेष आयु के लिए दुर्जनों के दर्शन से क्या फायदा ? सम्भव है किसी ने सेनापति को राजाश्रय में जाने की सम्मति दी हो और उन्होंने उसके उत्तर में यह उक्ति कही हो।

राजाश्रय प्राप्त होने का एक अन्य संकेत भी 'कवित्त-रत्नाकर' में मिलता है।

सुनु महाजन चोरी होति चारि चरन की
तातैं सेनापति कहै तजि करि ब्याज कौं।
लीजियौ बचाइ ज्यौं चुरावै नाहिं कोई सौंपी
वित्त की सी थाती कवित्तन की राज कौं॥[1]

इस छन्द के आधार पर 'कवित्त-रत्नाकर', के सम्पादक श्री उमाशंकरजी शुक्ल का अनुमान है कि 'कवित्त-रत्नाकर' को उन्होंने किसी राजा को समर्पित किया

१. प्रथम तरंग, छन्द १०

था और उससे इस बात की प्रार्थना की थी कि वह उनकी कविता को सुरक्षित रखे। शुक्लजी का यह अनुमान भी उचित नहीं जँचता। जिस प्रसंग में कवि ने यह काव्यार्पण किया है वहाँ किसी प्राकृत राजा की ओर संकेत नहीं जान पड़ता। वहाँ तो ऐसा लगता है कि कवि अपने आराध्यदेव को ही अपनी कविता समर्पण कर रहा है।

कविता काल—स्वयं कवि के साक्ष्य के अनुसार उसका प्रसिद्ध ग्रंथ 'कवित्त-रत्नाकर' संवत् १७०६ में सम्पूर्ण हुआ।[1] यह कवि की प्रौढ़ कृति है। निश्चय ही इसकी रचना कवि ने जीवन की प्रौढ़तम अवस्था में की होगी। इसमें कवि के वृद्ध होने का संकेत भी मिलता है। मिश्र-बन्धुओं ने इसी आधार पर इनका जन्म समय सं० १६४६ के आस पास माना है।

रचनायें—सेनापति की केवल एक रचना 'कवित्त-रत्नाकर' प्रकाश में आई है। कहा जाता है कि 'काव्य-कल्पद्रुम' नामक इनकी एक अन्य कृति भी है। अभी तक इसका कोई उल्लेख खोज-रिपोर्टों में भी नहीं मिलता। विद्वानों का अनुमान है कि यह काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ रहा होगा और इसमें कवि ने लक्षण और उदाहरण की परिपाटी का पालन भी किया होगा। जो भी हो, कवि की एक ही रचना उसकी काव्यत्व-शक्ति की पूर्ण परिचायिका है।

कवित्त-रत्नाकर में कुल पाँच तरंगें हैं। प्रथम तरंग में 'श्लेष-वर्णन' है। यह तरंग ९६ छन्दों में समाप्त हुई है। द्वितीय तरंग में 'शृंगार-वर्णन' है। कवित्त संख्या ७४ है। तीसरी तरंग में 'ऋतु-वर्णन' है। रीतिकालीन कवियों में सेनापति अपने 'ऋतु-वर्णन' के लिए प्रसिद्ध हैं। इस तरंग में छन्द संख्या ६२ है। चौथी तरंग में 'रामकथा' वर्णित है। कवि ने कथा का क्रमिक विकास नहीं दिखाया है। स्फुट प्रसंगों का ही वर्णन किया है। प्रसंग भी रुचि के अनुकूल प्रायः ओज पूर्ण लिए गए हैं। छन्द संख्या ७६ है। पाँचवी तरंग में कवि ने राम-भक्ति का परिचय दिया है। तरंग का नाम ही उसने 'रामरसायन-

---

१. संवत सत्रह सै छ में, सेइ सियापति पाइ।
सेनापति कविता सजी, सज्जन सजी सहाइ॥
(पाँचवी तरंग, छंद ८६)

वर्णन' रखा है। अन्त में कुछ छन्द चित्र-काव्य सम्बन्धी भी हैं। छन्दों की कुल संख्या इस तरंग में ८६ हैं।

व्यक्तित्व—सेनापति एक स्वाभिमानी व्यक्ति प्रतीत होते हैं। उनके इसी व्यक्तित्व की विशेषता ने कदाचित् उन्हें राजाश्रय में नहीं जाने दिया। उन्हें अपने ऊपर अखण्ड विश्वास था और राम-पदपंकज का पूरा भरोसा। कवि अपने पाण्डित्य के प्रति सजग और सचेष्ट था। वह द्वयार्थक कवित्व का निर्वाह करने में अपने को समर्थ समझता था और उसकी कविता सभी कवि कान देकर सुनते थे। वह केवल आदर का भूखा था। याचना करना उसने सीखा ही न था। कवि का यह व्यक्तित्व उसकी कविता में अनेक स्थानों पर प्रतिबिम्बित हुआ है। 'कवित्त-रत्नाकर' की पाँचवीं तरंग में—

सोचत न कौहू, मन लोचत न बार-बार,
सोचत न धीरज, रहत मोद घन है।
आदर के भूखे, रूखे रूख भौं अधिक रूखे,
दूखे दुरजन सौं न डारत वंचन है॥

उसने अपने इसी स्वभाव की ओर संकेत किया है।

काव्य-समीक्षा

सेनापति का काव्य विषयक आदर्श

काव्य के विषय में उसके कर्ता कवि का भी अपना दृष्टिकोण होता है। कभी-कभी तो यह युग की सर्वमान्य प्रवृत्ति के अनुकूल होता है और कभी स्वतन्त्र। अतः कवि की कृति को अपनी दृष्टि या आलोचना के मान्य मानदण्ड के आधार पर देखने के पूर्व स्वतः उसकी दृष्टि से देखना भी आवश्यक है। सेनापति को अपनी काव्य-शक्ति पर विश्वास था। 'कवित्त-रत्नाकर' के प्रारम्भ में उन्होंने अपना काव्य विषयक दृष्टिकोण कई छन्दों में स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि हमारी कविता—

मूढ़न कौं अगम, सुगम एक ताकौं, जाकी
तीछन अमल विधि बुद्धि है अथाह की।

कोई हैं अभंग, कोई पद है अभंग, सोधि
देखे सब अंग, सम सुधा के प्रवाह को ॥
ज्ञान के निधान, छंद-कोष सावधान जाकी
रसिक सुजान सब करत हैं गाहकी ।
सेवक सियापति कौं, सेनापति कवि सोई,
जाकी द्वै अरथ कविताई निरवाह की ॥
दोष सौं मलीन, गुन-हीन कविता है, तौ पै,
कीने अरबीन परवीन कोई सुनिहै ।
बिन ही सिखाए, सब सीखिहैं सुमति जौ पै,
सरस अनूप रस रूप यामैं धुनि हैं ॥
दूषन कौं करि कै, कवित्त बिन भूषन कौं,
जो करै प्रसिद्ध ऐसौ कौन सुर मुनि है ।
रामै अरचत सेनापति चरचत दोऊ,
कवित रचत यातैं पद चुनि चुनि है ॥
राखति न दोषै पोषै पिंगल के लच्छन कौं
बुध कवि के जो उपकंठ ही बसति है ।
जोए पद मन कौं हरष उपजावति है
तजै को कनरसै जो छंद सरसति है ॥
अच्छर हैं बिशद करति उषै आप सम
जातैं जगत की जड़ताऊ बिनसति है (?) ।
मानौं छबि ताकी उदवत सविता की सेना
पति कवि ताकी कविताई बिलसति है ॥

उपर्युक्त छन्दों में आत्म-विश्वास के साथ प्रकट कवि के काव्य-दृष्टिकोण को निम्न शब्दों में रखा जा सकता है ।

१—सेनापति की कविता मूर्खों के लिए नहीं विमलमति वाले बुद्धिमानों के लिए है ।

२—उसमें अभंग और सभंग पदों वाला श्लेषालंकार हैं और इस प्रकार वह द्वयार्थक है ।

३—कवि ने छन्द और कोष का ध्यान रखा है।

४—उसे रसिकों से आदर मिला है।

५—कवि को प्रसिद्धि का लोभ है किन्तु भूषण रहित और दोष सहित कविता करके प्रसिद्धि नहीं प्राप्त की जा सकती इसीलिए वह यद्यपि पदरचना चुन-चुन कर करता है फिर भी राम की पूजा और चर्चा भी करता है।

६—कवि के काव्य में दोष की मलीनता गुणहीनता हो सकती है फिर भी प्रवीण उसे सुनते हैं।

७—उसमें रस ध्वनि है।

८—उसमें पिंगल के लक्षणों का ध्यान रखा गया है, वह दोष रहित है; विद्वान कवि उसे कण्ठस्थ करते हैं।

९—वह ईख के समान सरस है और संसार की जड़ता दूर कर सकती है। इसके पश्चात् नवें और दसवें छन्द में कवि ने जो कुछ कहा है उससे उसके काव्य की तीन विशेषतायें और सामने आती हैं।

१०—वह अर्थ गर्भित है।

११—उसमें अलंकारों का प्राधान्य है।

१२—वह अपने सभी गुणों और द्विपक्षी अर्थ के कारण तीर के समान प्रभाव डालती है।

सेनापति के उपर्युक्त काव्यादर्शों पर विचार करने से प्रत्यक्ष है कि कवि के ये विचार रीतिकालीन काव्य-प्रवृत्ति के ही परिचायक हैं। कवि, अपने काव्य में 'रामार्चन' भी करता है तो अपनी ख्याति के लिए। वह न तो स्वान्तः सुखाय रघुनाथ-गाथा प्रस्तुत करता है और न तो जग-मंगल करने के लिए राम-कथा के रूप में विधि-निषेध ही देना चाहता है। संस्कृत के काव्य शास्त्रियों की भाँति उसके सारे काव्य विषयक आदर्श 'शब्द-अर्थ' के स्वरूप, चयन, सरसता, रमणीयता, गुण युक्तता, दोष रहितता तथा प्रभावोत्पादन तक ही सीमित है। प्रस्तुत प्रसंग में हम डाक्टर भगीरथ मिश्र के एतद्विषयक विचारों के उद्धृत करने

का लोभ संवरण नहीं कर सकते। अपने हिन्दी काव्य शास्त्र के इतिहास में पृष्ठ ३५३ वे कहते हैं—

"उपर्युक्त कथनों से सेनापति के काव्य का आदर्श इस प्रकार प्रकट होता है। कविता दोषों से रहित होनी चाहिए। छन्द और पिंगल के नियमों का पालन करने वाली होनी चाहिए। सेनापति शुद्ध छन्द की, कविता में बड़ी आवश्यकता समझते हैं। इसके अतिरिक्त उनके विचार से कविता, गुण और अलंकारों से भी युक्त हो, साथ ही साथ रस और ध्वनि का भी उसमें समावेश हो। कविता की सफलता इस बात में है कि उसका एक-एक चरण हर्ष और प्रसन्नता को उपजाने वाला हो।"

सेनापति के काव्य का स्वरूप

रीतिकाल का संक्षिप्त विवरण देते समय हम पीछे कह आए हैं कि रीति-कालीन कवि किसी न किसी रूप में रीति परिपाटी का पालन अवश्य करते हैं। सुविधा के लिए जिन्हें 'रीति-मुक्त' कहा गया है, टीकाकारों या संग्रह-कर्ताओं ने उनकी रचनाओं को भी नायक-नायिका भेद के अन्तर्गत ही समाविष्ट किया है। इस दृष्टि से आलम, ठाकुर, घनानन्द आदि भी रीति परिपाटी के भीतर आ जाते हैं।[1] ऐसी स्थिति में वे कवि जिन्होंने रीति-शास्त्र के ग्रन्थों का प्रणयन नहीं किया है किन्तु जिनकी समस्त कृति आलम्वन, उद्दीपन, अनुभव, ऋतुवर्णन, नायक-नयिका भेद-कथन की निश्चित व्यवस्था से पूर्ण है, उनको तो रीति-वद्ध मानना ही होगा।

सेनापति की स्थिति भी कुछ इसी प्रकार की है। उनका एक मात्र प्राप्त ग्रन्थ 'कवित्त-रत्नाकर' एक संग्रह-ग्रंथ है। उसमें काव्य शास्त्रीय विषयों का निरूपण नहीं किया गया है। अर्थात् जिस प्रकार रीति-वद्ध कवियों ने अलंकारों, रसों आदि का पहले दोहे में लक्षण और पश्चात् कवित्त या सवैये में उसका स्वरचित उदाहरण प्रस्तुत किया है, वैसा सेनापति ने नहीं किया है। फिर भी 'कवित्त-रत्नाकर' की प्रथम तीन तरंगें तो पूर्णतया रीति शैली में हैं। प्रथम तरंग में श्लेष-वर्णन के साथ अन्य अनेक अलंकारों का वर्णन भी हो गया है।

---

१. घनानन्द ग्रंथावली—पं० विश्वनाथ मिश्र, पृष्ठ ७

द्वितीय तरंग तो शृंगार-वर्णन है ही। यह अवश्य है कि शृंगार-वर्णन में कवि ने भाव, विभाव, अनुभाव आदि का क्रमबद्ध रूप से न तो लक्षण ही दिया है और न उदाहरण ही, किन्तु इन सभी का समावेश हो गया है। अतः क्रमबद्धता में स्वच्छन्दता होने पर भी निरूपण की पद्धति में परिपाटी पालन की प्रवृत्ति लक्षित हो ही जाती है। तीसरी तरंग में ऋतुवर्णन है। रीति-बद्ध कवि, प्रकृति-वर्णन उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत करते थे। सेनापति का ऋतुवर्णन विशद, सूक्ष्म, स्वाभाविक होते हुए भी उद्दीपन की प्रवृत्ति से मुक्त नहीं माना जा सकता। शेष दो तरंगों में यद्यपि कवि ने रामवृत्त-वर्णन एवं राम-भक्ति कथन किया है, जिसका रीति परिपाटी से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है किन्तु इन तरंगों में भी कवि की अलंकरण की प्रवृत्ति प्रधान है जो रीतिकाल की एक व्यापक एवं प्रमुख प्रवृत्ति रही है। अतएव सेनापति को रीतिबद्ध कवि माना जा सकता है। सम्भव है अपनी दूसरी अप्राप्य रचना 'काव्य-कल्पद्रुम' में कवि ने रीति-काव्यकारों के अनुसार ही लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए हों।[1]

स्वतः काव्यारंभ में कवि ने जो अपना काव्य विषयक आदर्श दिया है वह भी रीति-बद्ध कवियों के काव्यादर्श के मेल में रखा जा सकता है। पिछले पृष्ठों में कवि के निज के काव्यादर्श की चर्चा करते समय हम इस तथ्य की ओर संकेत कर आए हैं।

रीति-बद्ध परिपाटी के पालन करने वाले कवियों ने मुक्तक शैली को ही अपनाया था। युग की प्रवृत्ति, वातावरण की अनुकूलता और चमत्कार-प्रदर्शन की प्रबल आकांक्षा के कारण समग्र रीतिकाल में मुक्तक रचना का ही बाहुल्य रहा। सेनापति ने इस दृष्टि से भी रीति-परिपाटी का ही अनुसरण किया है। राम कथा लिखते समय भी कवि ने यह कह कर—

---

१. डॉ० नगेन्द्र ने सेनापति की दूसरी कृति 'काव्य-कल्पद्रुम' को मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' की शैली में विरचित ग्रंथ माना है। यदि यह सत्य है और डॉ० नगेन्द्र ने 'काव्य-कल्पद्रुम' देखा है तब तो सेना-पति को रीति-बद्ध मानने में कोई संदेह रहता ही नहीं।

"गाई चतुरानन सुनाई रिषि नारद कौं,
संख्या सत-कोटि जाकी कहत प्रवीने हैं।
नारद तैं सुनी बालमीकि, बालमीकि हू तैं
सुनी भगतन, जे भगति-रस भीने हैं॥
एती राम-कथा, ताहि कैसे कै बखानैं नर,
जातैं ए विमल बुद्धि बानी के विहीने हैं।
सेनापति यातैं कथा-क्रम कौं प्रनाम करि,
काहू काहू ठौर के कवित्त कछू कीने हैं॥"[1]

रामकथा को प्रबन्ध रूप में प्रस्तुत नहीं किया। निश्चय ही कवि ने यह बहाना युग-प्रवृत्ति से परिचालित होकर ही ढूंढ़ लिया है।

लक्षण और उदाहरण की साथ-साथ योजना करने वाले कवियों से सेनापति इस अर्थ में थोड़े मुक्त अवश्य हैं कि उन्हें प्रत्येक छन्द को किसी अलंकार-विशेष, रस-विशेष, नायिका-विशेष या आलम्बन-उद्दीपन और अनुभाव-विशेष के अनिवार्य उदाहरण रूप में नहीं रखना पड़ा। उन्हें सतर्कता के साथ लक्षण और लक्ष्य का समन्वय नहीं करना पड़ा। इस थोड़ी सी मुक्ति के कारण इनकी कविता में अधिक प्रवाह आ गया है और प्रायः साधारण श्रेणी के छन्द नहीं आ सके हैं।

अन्त में हम प्रस्तुत प्रसंग को समाप्त करते हुए आचार्य शुक्ल के उस तर्क को ज्यों का त्यों रखना चाहेंगे जो उन्होंने अपने इतिहास में बिहारी को रीति-बद्ध सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किया था।

"बिहारी ने यद्यपि लक्षण-ग्रंथ के रूप में अपनी सतसई नहीं लिखी है, पर 'नख-शिख', 'नायिका भेद', 'षट ऋतु', के अन्तर्गत उनके सब शृंगारी दोहे आ जाते हैं × × × दोहों की रचना करते समय बिहारी का ध्यान लक्षणों पर अवश्य था। इसीलिए हमने बिहारी को रीति काल के फुटकल कवियों में न रखकर उस काल के प्रतिनिधि कवियों में ही रखा है।"[2]

---

१. 'कवित-रत्नाकर', चौथी तरंग, छंद ६ २. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', संशोधित और परिवर्धित संस्करण—पृ० २७९

सेनापति का ध्यान भी कवित्त रचना करते समय लक्षणों की ओर अवश्य था। अतः वे सर्वथा रीति-मुक्त नहीं था। हाँ एक ओर उनके बन्धन थोड़े शिथिल थे और दूसरी ओर मुक्ति की सीमायें सीमित।

सेनापति के काव्य की अन्तर्धारा

समस्त मानवता को एक ही तरल चेतनता से बाँधने के लिए विधाता ने जिस सूक्ष्म संवेदनात्मक तन्तु का सृजन किया, साहित्यकारों ने उसे 'भाव' की संज्ञा दी। यह भाव चाहे वाह्य जगत की संवेदनात्मक अनुभूति के रूप में मानव-हृदय का विकार माना जाय या स्वयं उसकी स्मृति या कल्पना के आधार पर उद्‌बुद्ध मनस्थिति विशेष; यह निश्चित है कि मानव अपनी समस्त चेष्टाओं, क्रियाओं, विधानों और प्रयोगों में अनादि काल से इसी सामान्य मनोवृत्ति से परिचालित होता आया है। समस्त इतर सृष्टि से उसका राग-विराग-मय सम्बन्ध स्थापित करने वाली यह भाव सत्ता ही है। साहित्य अपने तात्विक स्थिति मे इसी भावात्मक अनुभूति की सामञ्जस्यमयी अभिव्यक्ति है। इसीलिए किसी भी युग को वाणी देने वाले, किसी भी देश की विशिष्ट परिस्थितियों से प्रेरणा ग्रहण करने वाले और मानवता के किसी भी छोर से सामाजिक या वैयक्तिक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देने वाले अमर कवियों की काव्यगत-अन्तर्धारा का विश्लेषण और विवेचन करते समय इसी भाव-सत्ता की विविध स्थितियों पर ही विचार करना पड़ता है।

काव्य का मूल भाव

सेनापति के काव्य की अन्तर्धारा—रति, उत्साह, क्रोध, भय, तथा निर्वेद वृत्तियों को अनुस्यूत करती हुई प्रवाहित हुई है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि उसमें 'शृंगार', 'वीर', 'रौद्र', 'भयानक', तथा 'शान्त रस' की निष्पत्ति हुई है। इनमें भी समस्त काव्य को सन्तुलित दृष्टि से लक्ष्य करने पर शृंगार, शान्त और वीर रसों का ही प्राधान्य ज्ञात होता है। आगे के पृष्ठों में हम कवि की इस रसानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति-सौंदर्य पर विचार करेंगे।

सेनापति का शृंगार-वर्णन

शृंगार और उसके अंग

'शृंगार' का अर्थ काम का उद्रेक है। शास्त्रकारों ने उत्तम प्रकृति के कामोद्रेक को ही शृंगार माना है।[1] इस शृंगार का स्थायी भाव 'रति' है। 'रति' का सामान्य अर्थ नायक-नायिका का परस्पर अनुराग है। शास्त्रीय ढंग से मनोनुकूल वस्तु में सुखानुभव की अनुभूति को रति कह सकते हैं।[2] शृंगार-रस के आलम्बन नायक-नायिका हैं। उद्दीपन के अन्तर्गत सखी की उपस्थिति हास-परिहास, तथा वातारण—ऋतु-सौंदर्य, वन, उपवन, चन्द्र, सुरभि—सभी आ जाते हैं। अनुरागपूर्ण कटाक्ष, मुसकान, अंग-भंगिमा आदि इसके अनुभाव कहे गए हैं। आलस्य, मरण, उग्रता, तथा जुगुप्सा को छोड़कर शेष सभी संचारी भावों—व्रीड़ा, गर्व अमर्ष, चिन्ता, असूया, हर्ष, मोह, स्मृति, त्रास, आवेग, तर्क, व्याधि, चपलता औत्सुक्य, आदि—का समावेश इसके अन्तर्गत हो जाता है।

'शृंगार' के दो पक्ष माने गए हैं—संयोग और वियोग। संयोग की स्थिति में रूप-वर्णन, हाव-चित्रण, उपवनादि में क्रीड़ा-विलास तथा विविध प्रकार के हास-परिहास की उद्भावनायें कवियों ने की हैं।

शृंगार के दो पक्ष संयोग-वियोग

वियोग की स्थिति चार प्रकार की मानी गई है। पूर्व राग, मान, प्रवास और मरण। 'मरण' के अन्तर्गत 'शोक' स्थायी हो जाने के कारण उसकी गणना 'करुण' रस के अन्तर्गत हो जाती है। हां ऐसा मरण जो किसी देवता के शाप के कारण हो और पुनः मिलन की सम्भावना हो वहाँ वियोग-शृंगार की स्थिति मानी जा सकती है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक पूर्वराग और मानजन्य वियोग को उचित नहीं मानते। जो भी हो, भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने इनमें भी वियोग की दशा मानी है और कवियों ने इनका वर्णन भी विस्तार पूर्वक किया

---

१. शृंङ्ग हि मन्मथोद्भेदस्तदागमन हेतुकः।

२. रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम।
उत्तम प्रकृति प्रायो रसः शृंगार इष्यते॥ (साहित्यदर्पण)

हैं। प्रवास के अन्तर्गत विरह की दश अवस्थायें—अभिलाप, चिन्तन, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण—दिखाई जाती हैं।

रीतिकालीन हिन्दी कवियों नें शृंगार के विविध अंगों, उसके दोनों पक्षों तथा अनेक अवान्तर स्थितियों का बड़ा ही विशद वर्णन किया है। सेनापति के शृंगार-वर्णन में भी शृंगार की यह विस्तृत रूपरेखा मिल जाती है। जैसा कि कहा जा चुका है 'कवित्त-रत्नाकर' की दूसरी तरंग शृंगार-वर्णन में ही समाप्त हुई है।

शृंगार के अन्तर्गत रूप-वर्णन

शृंगार-रस के अन्तर्गत रूप-वर्णन आवश्यक है। सेनापति के रूप-वर्णन पर हम तीन दृष्टियों से विचार करेंगे। (क) **रूप सम्बन्धी अवधारणा** (ख) **रूप-वर्णन प्रणाली**; (ग) **रूप-ग्रहण**।

(क) **रूप सम्बन्धी अवधारणा**—सेनापति ने कहीं भी रूप की परिभाषा नहीं दी है। फिर भी उनके वर्णन में सौंदर्य की सर्वमान्य भारतीय-अवधारणा का संकेत मिल जाता है। देखिए—

चन्द की कला सी, चपला सी, तिय सेनापति,
बालम के उर बीज आनँद के बोति हैं।
जाके आगे कंचन में रंचक न पैये रुचि,
मानौं मनि-मोती-लाल माल आगे पोति है॥
देखी प्रीति, गाढ़ी, पँवे तनसुख ठाढ़ी, जोर
जोवन की बाढ़ी खिन खिन और होति है।[1]

'खिन खिन और होति है' से 'क्षणे क्षणे यत नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' का स्मरण हो जाता है। वस्तुतः सौंदर्य की सबसे बड़ी महत्ता इसी में है कि वह क्षण-क्षण में नवीन हो जाता है। दृष्टा सौंदर्य-सत्ता को ग्रहण करना चाहता है किन्तु सौंदर्य एक चेतन और गतिशील सत्ता की भाँति नित्य नूतनता ग्रहण करता रहता है।

---

१. दूसरी तरंग, छंद ५७

(ख) **रूप-वर्णन प्रणाली**—सेनापति के रूप-वर्णन की पाँच प्रमुख शैलियाँ लक्ष्य की जा सकती हैं।—(१) स्फुट अंगों का सौंदर्य-वर्णन (२) नखशिख वर्णन (३) पूर्ण बिम्ब या सामूहिक प्रभाव वर्णन (४) अलंकृत वर्णन (५) नैसर्गिक सौंदर्य-वर्णन।

स्फुट अंगो का सौंदर्य

स्फुट अंगों के वर्णन में कवि ने सबसे अधिक रुचि नेत्रों के वर्णन में दिखाई है। द्वितीय तरंग के कई छन्दों में नेत्रों का ही वर्णन चलता रहा है। कवि ने नेत्रों में 'रंग की श्यामता', 'कटाक्ष' की वक्रता तथा 'चितवनि' की चँचलता भी लक्ष्य की हैं। दृगों के पश्चात् अधरों, केश, कुचों तथा कटि के भी वर्णन कवि ने किए हैं। इन वर्णनों में न केवल सौंदर्यानुभूति की मार्मिकता है वरन् भाषा का प्रवाह, शब्दों की सुष्ठु योजना तथा अलंकारों का आकर्षक विधान भी दर्शनीय है।

चंचल, चकित चल, अंचल मैं झलकति,
दुरे नव नेह की निसानी प्रानप्रिय की।

मदन की हेति, डारै ज्ञान हू के कन रेति,
मोहे मन लेति, कहे देति बात हिय की॥
पैनी, तिरछौंहीं, प्रीति-रीति ललचौंहीं, कुल-
कानि सकुचौंहीं, सेनापति ज्यारी जिय की।
नैंक अरसौंहीं, प्रेम-रस बरसौंहीं, चुभी
चित मैं हँसौंहीं, चितवनि ताही तिय की॥[1]

सुन्दरी के हँसते हुए नेत्रों में एक साथ ही तीक्ष्णता, वक्रता, प्रेम की ललक, कुल की कानि, हृदय की दृढ़ता, आलस्य एवं प्रेम-वर्णन देखना सेनापति की दृष्टि-सूक्ष्मता का परिचायक है।

नखशिख वर्णन

नखशिख-वर्णन में कवि ने रीतिकालीन अन्य कवियों की भाँति शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंगों के सूक्ष्म-विविधता पूर्ण वर्णन की ओर प्रवृत्ति नहीं दिखाई है। उसकी दृष्टि शरीर के प्रमुख अंग-उपांगों तक ही सीमित है। उसने नायिका के केश,

---

१. द्वितीय तरंग, छन्द ३

अधर, दंत, उरोज, भुजलता, कटाक्ष, करपल्लव, जंघा और चरणों का ही अधिक वर्णन किया है। एक उदाहरण अप्रासंगिक न होगा।

बिंब है अधर-बिंब, कुन्द के कुसुम दंत,
　　उरज अनार निरखत सुखकारी है।
राजैं भुज-लता, कोटि कंटक कटाछ अति
　　लाल-लाल कर किसलै के अनुकारी है॥
सेनापति चरन बरन नव पल्लव के,
　　जंघन कौं जुग रंभा थंभ दुति, धारी है।
मन तौं मुनिन हू कौं, जोवन-विहारी हुतौ,
　　सो तौ मृग-नैनी तेरे जोवन-विहारी है॥[1]

सौंदर्य का पूर्ण बिम्ब

नायिका के सौंदर्य का पूर्ण बिम्बात्मक स्वरूप भी कवि ने चित्रित किया है। यद्यपि इस प्रकार के चित्रण अपेक्षाकृत बहुत ही कम हैं। कहीं-कहीं यह पूर्ण बिम्ब अनालंकृत है और कहीं अलंकृत। कहीं पर कवि ने सौंदर्यांकन के साथ चेष्टाओं का भी वर्णन किया है और कहीं पर निश्चेष्ट स्थिति का ही। एक सचेष्ट चित्र देखिए। संध्या होने में थोड़ी देर है। नूपुरों की झंकार करती हुई, मन्द गति से चलती हुई बाला आँगन में आकर खड़ी हो गई। इस अनुपम रूपराशि, रति-स्वरूपा, विधि की अनुपम कृति, विलास की एक मात्र सजीव आधार नायिका के नेत्र उसकी विवशता की सूचना देने लगे। इस प्रेम सर्वस्वा नायिका का दर्पण के समान स्वच्छ सौंदर्य यदि कवि के चित्त में चुभ जाय तो आश्चर्य ही क्या?

नूपुर कौं झनकाइ मंद ही धरति पाइ,
　　ठाढ़ी आइ आँगन, भई ही साँझी बारसी।
करता अनूप कीनी, रानी मैंन भूप की सी,
　　राजै रासि रूप की, बिलास कौं अधार सी॥

---

१. द्वितीय तरंग, छन्द २५

सेनापति जाके दृग दूत ह्वै मिलत दौरि,
कहत अधीनता कौं होत हैं सिपारसी ।
गह कौं सिंगार सी, सुरत-सुख-सार सी, सो
प्यारी मानौं आरसी, चभी है चित आर सी ॥[1]

सेनापति ने नारी का सहज सौंदर्य भी देखा है। अलंकारों से रहित अपने नैसर्गिक रूप में भी नारी का सौंदर्य कितना प्रभावशाली होता है, रीति-युग के कवि के लिए इस प्रकार की कल्पना महत्व ही नहीं रखती थी। स्वयं सेनापति की दृष्टि भी अलंकारों के व्यामोह में कम नहीं फँसी थी। फिर भी उनका इस प्रकार का एक चित्र दर्शनीय है —

लाल मनरंजन के मिलिवे कौं मंजन कै,
चौकी वैठि वार सुखवति वर नारी है।
अंजन, तमोर, मनि, कंचन सिंगार बिन,
सोहत अकेली देह सोभा सिंगारी है॥
सेनापति सहज की तन की कि निकाई ताकी,
देखि कै दृगन जिय उपमा विचारी है।
ताल गीत बिन, एक रूप कै हरति मन,
परवीन गाइन की ज्यों अलापचारी है ॥[2]

इस सौंदर्यचित्रण की प्रशंसा में श्री उमाशंकरजी शुक्ल के शब्द ध्यान देने योग्य हैं।

"प्राचीन शैली के गायक किसी गीत के प्रारम्भ करने के पहले प्रायः उस राग के स्वरूप का चित्रण करते हैं जिसका गीत वे गाना चाहते हैं। इसे 'अलाप' कहते हैं। इसमें न तो गीत के कोई शब्द ही रहते हैं और न ताल का ही ही कोई प्रतिबन्ध रहता है, नायिका केवल मात्र अपने शरीर के सौंदर्य से ऐसे शोभित हो रही है जैसे ताल तथा गीत आदि से रहित किसी गायक की अलाप सुन्दर जान पड़ती है। दोनों की समता इसी में है कि दोनों कृत्रिम सौंदर्य से रहित हैं।"

---

१. दूसरी तरंग, छन्द २४ २. दूसरी तरंग, छन्द ५४

रीतियुगीन कवियों ने कविता को ही अलंकृत नहीं किया, कामिनी को भी खूब सजाकर देखा। यहाँ तक कह दिया गया कि "भूषन बिन न बिराजई कविता वनिता मित्त" अलंकारों से रहित नारी की कल्पना ही नहीं हुई। वैभव और विलास के वातावरण में सामन्तयुगीन प्रवृत्तियों से प्रेरित, कँचन और कादम्ब के समधरातल पर कामिनी को भी रख कर देखने वाले कवियों से और आशा ही क्या की जा सकती है ? सेनापति ने भी नारी को अलंकृत रूप में देखा है। किन्तु उनका अलंकरण नारी के सहज-सौंदर्य की अनुभूति को प्रायः तीव्र कर देता है। उसमें बाधक नहीं होता। देखिए—

पून्यौं सी तिहारी लाल, प्यारी मैं निहारी बाल,
तारे सम मोती के सिंगार रही साजि कै।
झीनौ पटु गात, चाँदनी सौं अवदात, जात
लोचन-चकोरन कौं देखैं दुख भाजि कै॥
सेनापति तनसुख सारी की किनारी बीच,
नारी के वदन आछी छबि रही छाजि कै।
पूरन सरद-चंद-बिंब, ताके आस पास,
मानहु अखण्ड रह्यौ मंडल बिराजि कै॥[1]

चित्र अलंकृत होने पर भी कितना प्रभावशाली है। कवि 'प्रस्तुत' के बिम्ब को प्रत्यक्ष करने के लिए अप्रस्तुत चित्र की बिम्ब-कल्पना करता है। पूर्णिमा के समान शुभ्र आभा वाली नायिका ने मोतियों से श्रृंगार किया है। तनसुख की सारी के बीच में मोतियों से अलंकृत उसका शशि मुख ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो शरद-पूर्णिमा के शशि के चारों ओर अखण्ड-मण्डल (मसिमय वृत्त जो प्राय. देखा जाता है) विराज रहा है।

ऊपर सेनापति के सौंदर्य-वर्णन की विभिन्न विधियों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि सौंदर्यांकन के यह विविध रूप अपनी निश्चित पृथक् सत्ता रखते हैं या इनके बीच में निश्चित विभाजिका रेखा खींची जा सकती है। यह विभाजन केवल सुविधा की दृष्टि से किया गया है। इसका एक मात्र उद्देश्य सेनापति के सौंदर्य-चित्रण के अनेक रूपों और विधाओं

१. दूसरी तरंग, छन्द ४९

को सामने लाना है। सौंदर्य-द्रष्टा कभी अंग विशेष को अंगी से पृथक् करके नहीं देखता। सामंजस्य सौंदर्य का मूल है। यदि नेत्रों, अधरों या केशों को शेष शरीर से पृथक् करके देखा जाय तो सौंदर्यानुभूति के लिए स्थान नहीं रहेगा।

(ग) रूप-ग्रहण—कवियों में रूप-ग्रहण की तीन सामान्य विधायें देखी जाती हैं। (क) तटस्थ द्रष्टा के रूप में (ख) रूप जन्य मानसिक आनन्द की अनुभूति-रूप में (ग) और आसक्ति के रूप में।

रूप-ग्रहण की तटस्थ स्थिति रीतिकालीन कवियों में नहीं मिलती। सेनापति से भी इसकी आशा नहीं की जा सकती। कहीं-कहीं कवि अलंकारों में उलझकर रूप के प्रभाव और आकर्षण को भूल गया हो और उसकी दृष्टि में तटस्थता आगई हो या प्रतीत होती हो तो बात दूसरी है।

सेनापति का अधिकांश रूप-ग्रहण, रूपजन्य मानसिक आनन्द की अनुभूति के रूप में हुआ है। एक उदाहरण देखिए—

कुंद से दसन घन, कुंदत बरन तन,
कुंद सौ उतारि धरी क्यौं बनै बिछुरि कै।
सोभा सुख-कंद, देख्यौ चाहियै बदन-चंद,
प्यारी जब मंद मुसकाति नैंक मुरि कै॥
सेनापति कमल से फूलि रहैं अंचल मैं,
रहैं दृग चञ्चल चुराए हू न दुरि कै।
पलकैं न लागैं, देखि ललकैं तरुन मन,
झलकैं कपोल, रहीं अलकैं बिथुरि कै॥[1]

स्पष्ट है कि कवि को नायिका के नैंकु मुड़कर मंद मुसकाने, दृगों के चांचल्य-प्रदर्शन, कपोलों की झलक, तथा अलकों की बिथुरानि' में एक विचित्र मानसिक आनन्द हो रहा है।

आसक्ति और वासनामय रूप-ग्रहण भी सेनापति में देखा जा सकता है। किन्तु उसकी संख्या नगण्य है।

---

१. दूसरी तरंग, छन्द १०

'पूर्वराग' एवं 'मान' की स्थिति में विरह-वर्णन अनौचित्य पूर्ण बताते हैं। हिन्दी के कवियों नें यद्यपि वर्णन तो सभी स्थितियों का किया है किन्तु विस्तार प्रवास-जनित विरहानुभूति को ही दिया है।

सेनापति ने 'प्रवास' में ही विरहोद्भावना की है। कहीं-कहीं 'ईर्ष्याहेतुक' विरह (मान की स्थिति में) भी वर्णित है किन्तु बहुत कम। सेनापति के विरह-वर्णन में वियोग की दशों अवस्थाओं का पूर्ण विस्तार नहीं मिलता। उद्विग्नता चिन्ता, स्मरण आदि कुछ थोड़ी सी अवस्थायें ही मिलती हैं। ऐसा लगता है कि जीवन के मार्मिक स्थलों के चित्रण में कवि की प्रवृत्ति नहीं रमती। इसीलिए 'रामायण' के स्फुट प्रसंगों की अवतारणा करते समय भी उसने केवल उत्साह-पूर्ण स्थलों का ही एक सूत्रीकरण किया है।

सेनापति में विरहिणी की मनस्थिति के बहुरंगी एवं विविध चित्र भी नहीं मिलते। कवि की अलंकरण की प्रवृत्ति भी बहुत दूर तक इसमें बाधक हुई है। उसका ध्यान अलंकारों से हटता ही नहीं। अतः मनस्थिति की सूक्ष्मता एवं उसका विश्लेषण वह नहीं कर पाता। यह होते हुए भी सेनापति का विरह-वर्णन स्वाभाविक हुआ है। सूक्ष्मता, विविधता एवं विशदता न होते हुए भी उसमें ऊहात्मकता नहीं आई है।

परम्परा के अनुसार कवि ने तापाधिक्य और कृषता का भी वर्णन किया है। किन्तु न तो बिहारी की भाँति उसकी नायिका इतनी कृश ही हो गई है कि साँस लेने और छोड़ने में छः हाथ आगे छः हाथ पीछे चली जाती है और न विरह की ज्वाला में ताप का आधिक्य ही इतना हो गया है कि यात्रियों को विरहिणी के 'ग्राम' को बचाकर चलना पड़ता है।

विरह की तीव्रता की उद्दीप्ति के लिए सेनापति ने रीतिकालीन अन्य कवियों की भाँति षट्ऋतु-वर्णन का आधार लिया है। कवि की वृत्ति ऋतु-वर्णन के अन्तर्गत प्रकृति के उपकरणों की सूक्ष्मता तथा ऋतु की प्रभाव विशदता पर इतनी अधिक रमती रह गई है कि बेचारी नायिका की सुख-दुखात्मक अनुभूतियों की ओर उसका ध्यान नहीं जा पाया है। अधिक से अधिक उसकी अधीरता और चिन्ता ही व्यक्त होपाई है।

उपर्युक्त गुण दोषों के होते हुए भी कवि का यह वर्णन कहीं-कहीं लोक-जीवन की प्रकृत भूमि के इतने निकट पहुँच गया है कि वरवस मन को खींच लेता है। प्रियतम परदेस चला गया है। वेचारी नायिका कपोल को हाथों पर रख अनमनी सी वैठी रहती है। कभी 'काग' को उड़ा कर सगुनौती करती है और कभी अवधि के शेष दिनों की गणना करती है। सन्तोष न होने पर प्रियतम की पत्रिका पढ़ती है, शान्ति न मिलने पर उसे पुनः पढ़ती है, और अन्त में प्रियतम का चित्र दर्शन करने लगती है।

जौतें प्रानप्यारे परदेस कौं पधारे तौतें,
विरह तें भई ऐसी ता तिय की गति है।
करि कर ऊपर कपोलहिँ कमल-नैंनी,
सेनापति अनमनी वैठियै रहति है ॥
कागहिं उड़ावै कौहू कौहू करै सगुनौती,
कौहू वैठि अवधि के वासर गनति है।
पढ़ि पढ़ि पाती, कौहू फेरि कै पढ़ति, कौहू
प्रीतम कौं चित्र मैं सरूप निरखति है ॥[1]

चित्र अपनी पूर्णता में भी जड़ है। उसने नायिका की सुप्त मनोव्यथा को और भी जगा दिया। वह प्रियतम के 'विलमने' के कारणों पर वितर्क करने लगी। प्रियतम क्यों नहीं आए? उन्हें किसने रोक लिया? उनकी सुधि कैसे मिले? नायिका की मनःस्थिति इन वितर्कों से चंचल हो उठी। वह विषाद मग्न हो गई किन्तु इसी समय उसके वाम नेत्र फड़क उठे। भोली नायिका इस शकुन के शुभ लक्षणों की कल्पना से प्रसन्न हो उठी। वितर्क, अभिलाष, विषाद, हर्ष एवं लोक विश्वास को एक ही साथ इतने सुन्दर ढंग से दिखाकर कवि ने काव्य प्रतिभा का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। पूर्णचित्र इस प्रकार है—

कौनें विरमाए कित छाए, अजहूँ न आए,
कैसे सुधि पाऊँ प्यारे मदन गुपाल की।

---

१ दूसरी तरंग, छन्द ६१

लोचन जुगल मेरे ता दिन सफल ह्वै हैं,
जा दिन वदन-छवि देखौं नँद-लाल की ॥
सेनापति जीवन-अधार गिरधर विन,
और कौंन हरै बलि विथा मो विहाल की ।
इतनी कहत, आँसू बहत, फरकि उठी,
लहर लहर दृग बाँईं व्रज-वाल की ॥[१]

शकुन व्यर्थ नहीं गया। उसी समय अकस्मात् प्रियतम की पत्रिका प्राप्त हुई। नायिका के शरीर में मानो प्राण आगए। उसने पत्रिका को माथे से लगाया, चूम लिया और अन्त में हृदय से लिपटा लिया।

ताही समैं काहु औचकाही आई चीठी दीनों,
देखत ही सेनापति, पाई प्रीति रति की ।
माथे लै चढ़ाई, दोऊ दृगनि लगाई, चूमि
छाती लपटाई राखी पाती प्रानपति की ॥[२]

लेकिन पत्रिका प्रियतम तो नहीं हो सकती। ओस के चाटने से कहीं प्यास बुझती है ? विरह की व्यथा तो प्रियतम के सानिध्य से ही दूर हो सकती है। विरह-विदग्ध हृदय को शीतलता का उपचार जड़ पत्रिका कैसे देती ?

सेनापति जदुबीर मिलैं ही मिटैगी पीर,
जानत हौ प्यास कैसे ओसनि बुझति है ।
मिलिवे के समैं आप पाती पठवत, कछू
छाती को तपति पति पाती तैं सिराति है ॥[३]

प्रियतम की आगमन की अवधि भी व्यतीत हुई। प्रियतम नहीं लौटे। विवश-नायिका का एक मात्र आधार 'पत्रिका' का आना भी बन्द हो गया। निष्ठुर नियति का काल चक्र चलता रहा। पल, दिन, मास, व्यतीत होते रहे। अन्त में पावस ऋतु भी आगई। प्रियतम के अभाव में नायिका के लिए सावन की रात्रि भगवान वामन का डग बन गई—

---

१. दूसरी तंरग, छंद ६८ २. दूसरी तंरग, छंद ६० ३. दूसरी तंरग, छंद ३९

दूरि जदुराई, सेनापति सुखदाई देखौ,
आई रितु पाउस, न पाई प्रेम-पतियाँ।
धीर जलधर की, सुनत धुनि धरकी, हैं
दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियाँ ॥
आई सुधि बर की, हिए में आनि खरकी, 'तू
मेरी प्रानप्यारी' यह पीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की, लाल मनभावन की,
डग भई बावन की, सावन की रतियाँ ॥[1]

नायिका विरह में जलती रही। सखियों ने कम उपचार नहीं किया। वीणा बजाकर गान सुनाया। हृदय पर शीतल गुलाबजल छिड़का। घनसार का लेप किया। किन्तु सखियों का उपचार प्रतिकूल प्रभाव डालने लगा।

ज्यौं ज्यौं सखी सीतल करति उपचार सब
त्यौं त्यौं तन विरह की बिथा सरसाति है।"[2]

व्यथा सरसती रही; कृशता बढ़ती गई; कवि की वाणी उल्लेख करती रही— और नायिका? वह तो कंचन की एक रेखा मात्र रह गई।

बाल, हरिलाल के वियोग तैं बिहाल, रैनि
बासर बरावै बैठि बर की निसानी सौं।
बोल? कौन बल? कर-चरन चलावै कौन?
रहत हैं प्रान प्रानपति की कहानी सौं ॥
लागि रही सेज सौं, अचेत ज्यौं, न जानि जाति,
सेनापति बरनत बनत न बानी सौं।
रही इकचक, मानौ चतुर चितेरे, तिय
रंचक लिखी है कौई कंचन के पानी सौं ॥[3]

कृशता का यह वर्णन कवि सेनापति के काव्य-कौशल का सुन्दर उदाहरण है। क्षीणता की चरम व्यंजना होने पर भी न तो चित्र ऊहात्मक ही हुआ है और

१. तीसरी तरंग, छंद २८ २. दूसरी तरंग, छंद ३९ ३. दूसरी तरंग, छंद ४७

न मार्मिकता में व्याघात ही पहुँचा है। क्षीण होने पर भी नायिका की कान्ति, दीप्ति एवं आभा नष्ट नहीं हुई है। इसीलिए ऐसा प्रतीत होता है मानो किसी चतुर चित्रकार ने स्वर्ण के पानी से थोड़ी सी क्षीण रेखाओं में नायिका को चित्रित कर दिया है।

अन्य भाव तथा रस धाराएँ

कहा जा चुका है कि शृंगार (रति) के अतिरिक्त, सेनापति के काव्य में उत्साह, क्रोध, भय, निर्वेद तथा भक्ति भावों की भी सुन्दर व्यंजना हुई है। अतः 'वीर', 'रौद्र', भयानक, शान्त एवं भक्ति रसों का (यदि भक्ति रस है तो) परिपाक हुआ है।

शृंगार के पश्चात् 'भक्ति' को छोड़कर 'उत्साह' ही एक ऐसी वृत्ति है जिसकी अभिव्यक्ति में कवि का हृदय सर्वाधिक तल्लीन हुआ है। 'उत्साह' की विषद धारा चौथी तरंग में रामायण वर्णन के अन्तर्गत प्रवाहित हुई है। कवि ने मनो-वृत्ति के अनुकूल राम-कथा के क्रमिक एवं सन्तुलित विकास पर ध्यान न देकर केवल उसके उत्साहपूर्ण स्थलों की ही उद्‌भावना की है।

✓प्रारंभ में ही मंगलाचरण के पश्चात् कवि ने राम के जिस स्वरूप को मूर्त किया है वह साक्षात् उत्साह का व्यक्त स्वरूप जान पड़ता है। इस मूर्त-विधान में कवि द्वारा प्रयुक्त विशेषण भी उसकी मनोवृत्ति के परिचायक हैं। 'वीर', 'महाबली', 'धीर', 'धरम धुरंधर', 'सारंग धनुष धरैया', 'दानीदल मलन', 'कलिमल मथन', देव द्विज-दीनन के दुख दलन' आदि विशेषण वीर-मूर्ति राम की व्यंजना करते हैं। आगे चलकर कवि क्रमशः सीता स्वयम्वर, परशुराम आगमन , मारीच-वध, हनुमान का लंका गमन, सेतुबन्ध का विशाल आयोजन, राक्षसों से हनुमान का विकट युद्ध, अंगद-रावण संवाद, राम-रावण युद्ध एवं सीता अग्नि परीक्षा के दृश्य सामने ले आता है। इन सभी अवसरों पर उत्साह की आवश्यकता कहने की वस्तु नहीं। कवि ने इस 'उत्साह' की व्यंजना बड़े कौशल से की है।

'उत्साह' वीर-रस का स्थायी भाव है। अतएव उत्साह की पूर्णता 'वीररस' की निष्पत्ति कराती है। जीवन के विविध क्षेत्रों में उत्साह की स्थिति अति

उत्साह, स्थायी वीररस

व्यापक है। अतएव साहित्य शास्त्रियों ने भी इसी व्यापकता को ध्यान में रखकर 'वीररस' के चार प्रमुख भेद माने हैं। (क) युद्धवीर (ख) धर्मवीर (ग) दयावीर और (घ) दानवीर। युद्धवीर का स्थायीभाव युद्ध में उत्साह है। 'शत्रु' आलम्बन है। उद्दीपन का कार्य शत्रु का पराक्रम करता है। 'गर्वोक्ति' इसका अनुभाव है। गर्व, तर्क, धृति, स्मृति रोमाँच आदि इसके संचारी हैं।[1] रीतिकालीन हिन्दी कवियों में भूषण ने 'युद्धवीर' के अतिरिक्त शेष तीन वीररस के प्रकारों का भी विस्तृत वर्णन किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने तो 'सत्यवीर' 'पाण्डित्यवीर', 'वलवीर', 'क्षमावीर' आदि कई अन्य भेदों की ओर भी संकेत किया है।[2]

सेनापति ने 'युद्धवीर' का ही विस्तार से वर्णन किया है। राम की दान-वीरता पर भी प्रसंगवश दो छन्द लिख दिए हैं। 'वीर-रस' के शेष प्रकारों की ओर कवि की रुचि नहीं गई है।

वीररस-वर्णन की विशेषता

सेनापति के 'वीररस' वर्णन की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि वे युद्ध के दृश्यों—मारकाट आदि—का उतना वर्णन नहीं करते जितना उसके आयोजन का। वस्तुतः उत्साह की विशदता आयोजन में ही देखी जाती है। अतिरिक्त, सेनापति ने युद्ध में प्रतिपक्षी के शौर्य और उत्साह को भी नायक के समान ही महत्व दिया है। एक दृश्य अप्रासंगिक न होगा—

वीर रस मद माते, रन तें न होत हाते,
दुहू के निदान अभिमान चाप-बान कौं।
सर बरषत, गुन कौं न करषत मानौ,
हिय हरषत, जुद्ध करत बखान कौं॥

---

१. आलम्बन विभावास्तु विजेतव्यादयो मताः। अनुभावस्तु तत्रस्यु सहा-यान्वेषणादयः विजेतव्यादि चेष्टाद्यास्तस्योद्दीपन रूपिण:। सञ्चारिणस्तु धृति मति गर्व स्मृति तर्क रोमाञ्चा:। सच दान धर्मयुद्धर्दययाच समन्वि-तश्चतुर्धास्यात्।

२. वस्तुतस्तु वहवो वीररसस्य शृङ्गारस्यव प्रकाराः। देखिए 'वीरकाव्य' (डॉ० उदयनारायण तिवारी)

सेनापति सिंह-सारदूल से लरत दोऊ,
देखि धधकत दल देव जातुधान कौं।
इत राजा राम रघुबंस कौं धुरंधर है,
उत दसकंधर है सागर गुमान कौं ॥[1]

उग्रता में सौंदर्य

युद्ध भूमि में युद्धरत राम के सौंदर्य का अंकन भी कवि ने किया है। कवि, केवल कोमलता में ही सौंदर्य नहीं देखता। परुषता, कठोरता, रौद्रता भी सुन्दर होती है यदि उचित स्थान पर हो तो। तुलसी ने भी राम के क्रोध में सौंदर्य दर्शन किया था। सेनापति का भी यह सौंदर्य चित्र अपनी सजीवता के लिए चिर-स्मरणीय है—

काढ़त निषंग तैं, न साधत सरासन मैं,
खेंचत, चलावत, न बान पेखियत है।
स्रवन मैं हाय, कुंडलाकृति धनुष बीच,
सुन्दर बदन इकचक लेखियत है ॥
सेनापति कोप-ओप-ऐन हैं अरुन-नैंन,
संबर-दलन मैंन तैं विसेखियत है।
रह्यौ नत ह्वै कै अंग ऊपर कौं संगर मैं,
चित्र कैसौ लिख्यौ राजा राम देखियत है ॥[2]

वीरता में भी मर्यादा

सेनापति भारतीय वीरत्व के आदर्श से पूर्ण परिचित हैं। वे जानते हैं कि वीरता आँधी नहीं है जो उचित-अनुचित का विचार न रखती हो। वे क्रूरता और वीरता के अन्तर को भी समझते हैं। इसीलिए उन्होंने वीरत्व के अन्तर्गत औचित्य और मर्यादा को भी स्थान दिया है। मंदराचल को भी चूर्ण-चूर्ण कर देने वाले राम के वाण परशुराम का यज्ञोपवीत देखकर ज्यों के त्यों रह जाते हैं—

पब्बै मेरु-मंदर कौं फोरि चकचूर करैं,
कीरति कितीक, हनैं दानव के दल कौं।

---

१. चौथी तरंग, छंद ५८ २. चौथी तरंग, छंद ६०

सेनापति ऐसे राम-वान तऊ विप्र हेत,
देखत जनेऊ खैंचि राखैं निज वल कौं ॥[1]

कहीं-कहीं तो सेनापति की वीरत्व व्यंजना देखकर चारण-कवियों का स्मरण हो आता है। छद्मवेशी मारीच को मारने के लिए उद्यत राम की वीरत्व-व्यंजना तथा उसका विश्वव्यापी प्रभाव देखिए—

पिख्खि हरिन मारीच, थप्पि लख्खन सिय-सत्थह।
चाल्यौ वीर रघुपत्ति, क्रुद्ध उद्धत धनु हत्थह॥
परत पन्न-भर मग्ग, कित्ति सेनापति वुल्लिय।
जलनिधि-जल उच्छलिय, सव्व पव्वै गन डुल्लिय॥
दव्विय जु छित्ति पताल कहँ, भुजग-पत्ति भज्जिय सटकि।
रख्खिय जु हट्ठि सुट्ठिय कठिन, कमठ पिट्ठि टुट्टिय चटकि॥[2]

दृश्य की सजीवता तथा शक्ति के अति व्यापक प्रभाव-वर्णन की सराहना करते हुए भी एक वात खटकती है। मारीच ऐसा प्रवल शत्रु नहीं था जिसके लिए राम की शक्ति या उसके व्यापक प्रभाव को इस रूप में मूर्त किया जाय। मारीच-वध के लिए राम का प्रस्थान एक सामान्य घटना थी। मारीच-वध के लिए राम का अपार क्रोध प्रदर्शन—जिसमें समुद्र का जल उछलने लगे, पर्वत टूटने लगे, पृथ्वी पताल में धँस जाय शेष नाग भागने लगें—औचित्य पूर्ण नहीं प्रतीत होता। तुलसी को तो यह भी मान्य नहीं कि भगवान राम माया-मृग के पीछे दौड़ते फिरें—

प्रभुहि विलोकि चला मृगभाजी। धाएराम सरासन साजी।
निगम नेति सिव ध्यान न पावा। माया मृग पाछे सोइ धावा॥

इस अनौचित्य के लिए हम केवल इतना ही कहेंगे कि 'सेनापति' तुलसी नहीं थे।

रौद्र रस—रौद्र रस की निष्पत्ति भी सेनापति के काव्य में हुई है। इस 'रस' का स्थायी भाव क्रोध है। 'रौद्र रस' में भी आलम्वन शत्रु ही होता है। होठों को दवाना, नेत्रों का अरुण होना, धरणी को वलपूर्वक दवाना, भृकुटी

---

१. चौथी तरंग, छंद २८ २. चौथी तरंग, छंद ३०

टेढ़ी करना आदि इसके अनुभाव है। साथ ही चपलता, स्मृति, उग्रता, आवेग, असूया आदि संचारी भाव इसे पुष्ट करते हैं।[१] कहीं-कहीं 'रौद्र रस' और 'युद्ध-वीररस' में स्पष्ट अन्तर नहीं जान पड़ता क्योंकि दोनों का आलम्बन प्रायः शत्रु ही होता है। साहित्य-दर्पणकार ने दोनों में सूक्ष्म भेद स्थापित करते हुए कहा है कि 'नेत्र तथा मुख का लाल होना' रौद्र रस में ही होता है; वीररस-में नहीं। क्योंकि वीररस का स्थायी उत्साह मात्र होता है जिसमें इतनी प्रबल उग्रता नहीं होती।[२]

सेनापति ने रुद्रमूर्ति परशुराम के क्रोध प्रदर्शन में साक्षात् रौद्र-रस को ही सजीव कर दिया है—

भीज्यौ है रुधिर, भार भीम, घनघोर धार,
जाकौं सत कोटि हू तैं कठिन कुठार है।
छत्रियन मारि कै, निछत्रिय करी है छिति,
बार इकईस, तेज-पुंज कौं अघार है॥
सेनापति कहत कहाँ हैं रघुबीर कहौ ?
छोह भर्‌यौ लोह करिबे कौं निरधार है।
परत पगनि, दसरूथ कौं न गनि, आयौ
अगिन-सरूप जमदगनि-कुमार है॥[३]

'कवित्त-रत्नाकर' में भयानक रस का परिपाक भी दो तीन स्थलों पर दिखाई देता है। 'भय' इसका स्थायी भाव है। विकृत स्वर, अधैर्य आदि विभावों से यह उद्दीप्त होता है। स्वेद, शोक, वेपथु, वैचित्र्य आदि इसके अनुभाव हैं। दैन्य, मोह, त्रास इसके संचारी हैं।[४]

भयानक रस

इस रस के वर्णन में सेनापति की प्रवृत्ति रमती नहीं प्रतीत होती। अतः उन्होंने प्रसंगवश ही इसे स्थान दिया है। धनुर्भंग के अवसर पर 'भय' की स्थिति देखिए—

---

१. रूपक रहस्य—बाबू श्यामसुन्दरदास २. साहित्य-दर्पण
३. चौथी तरंग छंद, २६ ४. रूपक रहस्य, बाबू श्यामसुन्दरदास

हहरि गयौ हरि हिए, धधकि धीरत्तन मुक्किय।
ध्रुव नरिंद थरहर्‌यौ, मेरु धरनी धसि धुक्किय॥

× × ×

टट्टिय पिनाक निर्घात सुनि, लुट्टिय दिगंत दिग्गज विकल॥[1]

सेनापति ने पाँचवी तरंग में भक्ति और शान्त रसों को स्थान दिया है। वस्तुतः 'शृंगार' (रति), 'वीर' (उत्साह) तथा भक्ति एवं निर्वेद इन्हीं तीन-चार प्रमुख मनोवृत्तियों से सम्बन्धित अनुभूतियों के चित्रण में ही सेनापति अधिक प्रवृत्त हुए हैं। उनकी मूल मनोवृत्ति 'शृंगारी' थी या 'भक्तिपूर्ण' इस पर हम आगे चलकर विस्तार से विचार करेंगे।

शान्त रस

शान्त रस के रसत्व में संस्कृत के आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। यहाँ हम उनके विचार-विवेचन में न पड़कर इसके विषय में सामान्य मान्यताओं की चर्चा करके ही सन्तोष करेंगे। 'शम' शान्तरस का स्थायी भाव माना गया है। तत्त्वज्ञान, तप, चिंतन आदि इसके विभाव हैं। काम, क्रोध आदि का अभाव अनुभाव है। धृति, मति आदि संचारी हैं।

सेनापति का 'निर्वेद' तत्त्वज्ञान जनित नहीं प्रतीत होता। वह राग की प्रतिक्रिया के रूप में उद्‌भूत विराग-जनित प्रतीत होता है। देखिए—

कीनौ बालापन बालकेलि मैं मगन मन,
लीनौ तरुनापै तरुनी के रस तीर कौं।
अब तू जरा मैं पर्‌यौ मोह पींजरा मैं, सेना-
पति भजु रामैं जो हरैया दुख पीर कौं॥
चितहिं चिताउ, भूलि काहू न सताउ, आउ
लोहे कैसौ ताउ, न बचाउ है सरीर कौं।
लेह देह करि कै, पुनीत करि लेह देह,
जीमैं अवलेह देह सुरसरि नीर कौं॥[2]

१. चौथी तरंग, छंद १६ २. पाँचवीं तरंग, छन्द १२

कवि 'सेनापति' की अन्तर्वृत्ति
(भक्तिमूलक या शृंगारी)

सेनापति के काव्य की अन्तर्धारा से परिचित होने के बाद सहज जिज्ञासा होती है कि वस्तुतः कवि के व्यक्तित्व-संगठन में किस मूल मनोवृत्ति ने अधिक कार्य किया था ? कुछ कवियों को लेकर इधर इस प्रकार के प्रश्न भी उठाये जाने लगे हैं कि अमुक कवि 'भक्त' था या 'शृंगारी' ? सेनापति को लेकर भी ऐसी चर्चायें प्रायः देखी गई हैं।

इस प्रसंग को लेकर विचार करने पर तीन प्रमुख प्रश्न उठते हैं—

क—क्या भक्त, शृंगारी और शृंगारी, भक्त नहीं हो सकता ?

ख—क्या भक्ति और शृंगार दोनों में तात्त्विक विरोध है ?

ग—क्या भक्त कवियों की शृंगारी रचनायें उनकी भक्ति से भिन्न मनःस्थिति की परिचायक और शृंगारी कवियों की भक्ति-चर्चा शृंगार से भिन्न मनःस्थिति की सूचक नहीं है ?

वस्तुतः प्रश्न एक ही है और वह है भक्ति और शृंगार की तात्त्विक एकता या भिन्नता का। सुविधा और विचार स्पष्टता के लिए एक ही प्रश्न को तीन रूपों में रखकर हम देखने का प्रयत्न करेंगे।

भक्ति और शृंगार

काव्य-शास्त्रीय दृष्टि

रस सिद्धान्त के आदि आचार्य भरतमुनि ने भक्ति को पृथक् रस नहीं माना है। वे तो सभी भावों का 'शान्त' से ही उद्भूत और शान्त में ही विलीन होना मानते हैं—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते॥

(नाट्यशास्त्र, ६।१०८)

फिर भी वे शान्तरस की गणना नाट्य-रसों में नहीं करते। इसीलिए उन्होंने रसों की पूर्ण संख्या आठ ही मानी।

अभिनव गुप्ताचार्य ने कारण वताते हुए भक्ति को शान्त रस के ही अन्तर्गत माना है।

तस्य च वैराग्यसंसारभीरुत्वादयो विभावाः। स हि तैरुपनिबद्धैर्विज्ञाते। मोक्षशास्त्रचिन्तादयोऽनुभावाः। निर्वेदमतिस्मृतिधृत्यादयो व्यभिचारिणः, अतएवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्र विष्टेभ्योऽन्यथैवाङ्गमिति न तयोः पृथग्रसत्वेन गणनम्।

(अभिनव भारती, व्याख्या पृष्ठ ३४०)

श्री मम्मट ने 'शान्तरस' के अन्तर्गत भक्ति की गणना करना उचित नहीं समझा। 'भक्ति' में मूल तत्त्व 'रति' है। शान्त में 'निर्वेद'। 'रति' और 'निर्वेद' को एक ही कोटि में वे परिगणित न कर सके किन्तु अभिनव गुप्त का स्पष्ट विरोध भी उन्होंने नहीं किया। फलतः 'भक्ति' को उन्होंने 'भाव' मात्र माना।

रतिर्देवादि विषयां व्यभिचारी तथाञ्जितः भाव प्रोक्तः।

महामेधावी पण्डितराज जगन्नाथ ने इस प्रश्न को उठाया और स्वतः वड़े सीधे ढंग से समाधान भी कर लिया—

भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रसभावत्वादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्यायोगात्।....रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियान्त्रिता भज्यते।

स्पष्ट है कि पंडितराज को 'भक्तिरस' मानने में परम्परागत व्यवस्था भंग होने का डर था।

गौड़ीय सम्प्रदाय के वैष्णव भक्तों नें 'भक्तिरस' के ऊपर विस्तृत विचार किया। उन्होंने स्थायी-भावों की कुल पांच ही संख्या मानी—शान्ति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य। 'रति' के इन पाँच प्रकारों के आधार पर

वैष्णव भक्तों उन्होंने शान्तरस प्रीतिरस, सख्यरस या प्रेयोरस, वात्सल्य रस
का दृष्टिकोण तथा मधुररस इन पाँच रसों की कल्पना की। इन पाँचों में 'मधुररस' सर्वश्रेष्ठ है। वस्तुतः काव्य शास्त्रियों का 'शृंगार-रस' और भक्ति शास्त्रियों का यह 'मधुररस' मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक ही हैं। दोनों को पृथक् मानने का आधार आध्यात्मिक है वैज्ञानिक नहीं।

लौकिक श्रृंगार में 'रति' 'काममूला' है और मधुर रस की 'रति' 'प्रेममूला' है। प्रथम जड़ विषयक अनुराग है और द्वितीय भगवद्विषयक[1]। 'भक्तिरस' के परम प्रसिद्ध ग्रंथ उज्वलनीलमणि में भी दोनों का स्पष्ट अन्तर नहीं किया जा सका है। उसके अनुसार मधुररस (उज्वल रस) के अंग इस प्रकार हैं—

स्थायी भाव—कृष्ण के प्रति 'रति'

आलम्बन—भगवान कृष्ण

उद्दीपन—भागवत का श्रवण, रासलीला का अवलोकन

अनुभाव—अश्रु रोमाञ्चादि

संचारी—हर्ष, औत्सुक्य, निर्वेद आदि

वैष्णव भक्तों ने 'रसो वै सः' श्रुति वाक्य की प्रामाणिकता पर इसे ही आदि रस माना है। कहना न होगा कि उपर्युक्त सारा विवेचन साहित्य-शास्त्र के श्रृंगार विवेचन के आधार पर ही किया गया है।

जब हम लौकिक श्रृंगार और 'मधुररस' के भेदों पर विचार करते हैं तो दोनों में स्पष्ट रेखा केवल एक मिलती है। मधुररस के आलम्बन श्री कृष्ण हैं, जो परमतत्व हैं, अपार्थिव हैं। आत्मतत्व का परमतत्व से 'राग' भी अपार्थिव है। फलतः उसकी अनुभूति भी अलौकिक और भिन्न है। किन्तु आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्व का यह रागात्मक सम्बन्ध अपनी सम्पूर्ण अलौकिकता के साथ आध्यात्मिक क्षेत्र में ही ग्रहीत हो सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि तो इसका विवेचन इस प्रकार करेगी।

आध्यात्मिक दृष्टि से ही वैभिन्य

"अध्यात्म अथवा परोक्ष प्रेम भौतिक जीवन की विफलता का ही दूसरा रूप है। इस जीवन में अभिव्यक्ति न पाकर पराजित हृदय की वृत्तियाँ उस जीवन की ओर मुड़ीं, नर से त्रस्त होकर उन्होंने नारायण को अपना लक्ष्य बनाया। सारा देश भक्ति—अपार्थिव प्रेम—के मद में झूम उठा।"[2]

वैज्ञानिक दृष्टि

---

१ मधुररस की साधना—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, 'मध्यकालीन धर्म साधना' पृ० २१३। २ रीतिकाव्य की भूमिका—डॉ० नगेन्द्र

निष्कर्ष

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका तत्त्व संक्षेप में इस प्रकार होगा—

संस्कृत-साहित्य के आचार्यों ने 'भक्ति' को 'भाव' मात्र माना यद्यपि इस मान्यता में रूढ़ि पालन के प्रति निष्ठा की भावना भी थी।

'भक्ति' के प्रधान आचार्यों ने उसे 'रस' माना और शृंगार से उसकी भिन्नता भी स्थापित की किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि में दोनों में तात्त्विक भेद नहीं है।

भक्तों का शृंगार

अब भक्त के शृंगारी और शृंगारी के भक्त होने का प्रश्न उठता है। इस प्रश्न का सुलझा हुआ उत्तर स्वयं हिन्दी साहित्य का इतिहास है। सूरदास के भक्त होने में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। किन्तु सूरसागर में क्या यह पंक्तियाँ नहीं है—

आजु हरि रैनि उनीदे आए।
बिनु गुन माल बिराजति उर पर, चन्दन रेख लगाए।
अंजन अधर लिलाट महावर नयन तमोर खवाए॥
मगन देह सिर पाग लटपटी जावक रंग रंगाए।
नख रेख बिराजति हृदय सुभग कंकन पीठि बनाए॥[1]

× ×

आये लाल जामिनी जागे ते भोर।
नील कलेवर कोमल उर पर गड़ि गए कुच जुकठोर॥[2]

खण्डिता नायिका और धृष्ट नायक के इन चित्रणों को क्या कहा जाय? दूसरी ओर बिहारी को 'भक्त' मानकर चलने का साहस नही किया गया। किन्तु क्या इन दोहों में भक्ति का प्राधान्य नहीं है?

शृंगारियों की भक्ति

हरि कीजत विनती यहै तुमसों बार हजार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यौ रह्यौ पर्‌यौ रहौं दरबार॥

× ×

---

१. 'सूरसागर' खण्डिता वर्णन २. वही

मोहूँ दीजै मोष, ज्यों अनेक अधमनि दियौ ।
जौ बाँधेही ही तोष, तौ बांधौ अपने गुननि ॥

× ×

कौन भाँति रहि है विरद अब देखिबी मुरारि ।
बीधे मोसों आयकै, गीधे गीधहिं तारि ॥[१]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि अन्यतम भक्त-कवि भी अपने हृदय में विशुद्ध राग का उद्‌भावन करते समय शृंगारी हो उठता है। साथ ही घोर शृंगारी कवि भी मनस्थिति विशेष में भक्ति-भाव पूर्ण रचनायें करता है।

अन्तिम प्रश्न का उत्तर थोड़ा कठिन है। भक्त कवियों की शृंगारी रचनाओं में उनकी किस मनस्थिति का दर्शन होता है या शृंगारी कवियों की भक्ति-

मनस्थिति का ज्ञान कठिन

भाव-पूर्ण रचनायें किस मनस्थिति में लिखी गई थी? प्रश्न इस लिए जटिल है कि हम दूसरे की मनोवृत्ति और मनस्थिति को अपनी मनोवृत्ति के आधार पर ही परखने और देखने की चेष्टा करते हैं। यही कारण है कि विद्यापति आज के बौद्धिक आलोचक के लिए घोर शृंगारी हैं तथा चैतन्य देव के लिए घोर भक्त थे। यह होने पर भी हमें निर्णय के लिए कुछ आधार भी मिल जाते हैं। संक्षेप में हम इन आधारों को निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

मानदण्ड

क—कवि की रचना का परिमाण।
ख—अनुभूति की सघनता एवं तन्मयता।
ग—सृजन की प्रेरक शक्तियां अर्थात वातावरण।
घ—लोक परम्परा में कवि के व्यक्तित्व की स्वीकृति।
ङ—विद्वानों की सम्मतियाँ।
च—स्वयं कवि के एतद्विषयक संकेत।

उपर्युक्त आधारों को सामने रखकर हम सेनापति की अन्तर्वृत्ति परखने का प्रयास करेंगे।

---

१. बिहारी सतसई

रचनाओं के परिमाण से भी कवि की मनोवृत्ति का सामान्य परिचय मिल जाता है। निश्चित है कि जब तक हम बाध्य न कर दिए जांय, वही कार्य करेंगे जो हमारी रुचि, प्रवृत्ति, एवं मानसिक स्थिति के अनुकूल होगा। अतः यदि किसी कवि ने भक्ति-भाव पूर्ण रचनायें अधिक परिमाण में की हैं तो उसे भक्त स्वीकार कर लेने का एक आधार मिल जाता है।

मानदण्डों का औचित्य

रचनाओं के परिमाण के अतिरिक्त उसमें अनुभूति की सघनता का तत्त्व उससे भी अधिक आवश्यक है। हृदय की वास्तविक पुकार ही हमारी सच्ची अन्तर्वृत्ति की व्यंजना कर सकती है।

काव्य की प्रेरक शक्तियाँ—वातावरण आदि—का व्यापक प्रभाव कवि के ऊपर पड़ता है। कभी-कभी अपने व्यक्तिगत जीवन में अतीव विनम्र, आध्यात्मिक विचार वाला तथा भक्तिपूर्ण हृदय का व्यक्ति भी परम्पराओं के सामने घुटने टेक देता है। वातावरण का ग्रहण भी कवि विशेष, अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल करता है। साथ ही एक ही प्रकार की काव्य रचना विभिन्न वातावरणों में विभिन्न अर्थों और स्वरूपों में ग्रहण की जाती है। ऐसी स्थिति में कवि की अन्तर्वृत्ति जानने के लिए यह एक ठोस आधार हो सकता है कि हम जानने का प्रयत्न करें कि कवि का काव्य किस वातावरण में बैठकर लिखा गया था। एक ही छन्द मन्दिर में भक्ति और राजदरबार में 'श्रृंगार-रूप' में स्वीकृत हो सकता है।

कवि या भक्त की मनोवृत्ति की परख लोक-चेतना हम लोगों से अधिक सजग और सचेष्ट रहकर करती है। जाने कितने कवि हुए और गए; कितने भक्तों ने अपना राग अलापा और मौन हो गए किन्तु लोक-चेतना ने कुछ को ही सच्चे कवि या भक्त के रूप में स्मरण रखा।

विभिन्न विद्वानों की सम्मतियाँ वस्तुतः एक ही व्यक्ति के विषय में विभिन्न दृष्टिकोण हैं जो विभिन्न अध्ययन प्रणालियों के प्रतिफल रूप हैं। अतः इस प्रकार के निर्णयों में उनका आधार लेना केवल प्रवञ्चना नहीं हो सकती।

इस प्रसंग में यह भी स्मरण रखना होगा कि स्वतः कवि द्वारा अपनी भावना एवं काव्य विषय के सम्बन्ध में दिए गए संकेत भी हमारी सहायता कर सकते हैं।

कसौटी पर

जैसा कि हम देख चुके हैं सेनापति ने 'कवित्त-रत्नाकर' में पहली तरंग में 'अलंकार' दूसरी में 'श्रृंगार', तीसरी में 'ऋतु' का वर्णन किया है। चौथी में 'रामकथा' के उत्साह पूर्ण स्थलों की अलंकृत किन्तु सजीव झांकी प्रस्तुत की गई है। पाँचवी तरंग में 'राम रसायन' वर्णन है। जो भक्ति एवं निर्वेद की भावना से पूर्ण होते हुए भी अलंकृत है।

रचनाओं का परिमाण

रचना के परिमाण का विश्लेषण करने पर प्रतीत ऐसा होता है कि सबसे अधिक कवि का ध्यान अलंकार-वर्णन पर है क्योंकि विषय चाहे जो रहा हो कवि ने भाषा सर्वत्र अलंकृत रखी है। इस क्रम में दूसरा नम्बर श्रृंगारिकता का है क्योंकि 'अलंकारिक' वर्णन में श्रृंगार भी प्रमुख है। श्रृंगार-वर्णन में तो वह दलबल के साथ है ही और ऋतु-वर्णन में भी साध्य श्रृंगार ही है, ऋतु का सौंदर्य नहीं।

तीसरे नम्बर पर हम भक्ति एवं निर्वेद के भावों को रख सकते हैं। 'राम रसायन' वर्णन में इन्हीं दोनों भावों का प्राचुर्य है। भक्ति भाव सम्बन्धी पद 'निर्वेद' से कहीं अधिक हैं।

अनुभूति की सघनता

जहाँ तक अनुभूति की सघनता तथा तन्मयता का प्रश्न है; सेनापति की भक्ति-भावना में उसके पूर्ण दर्शन होते हैं। भक्ति अपनी सघनता में आलम्बन के महत्त्व की स्वीकृति तथा आश्रय की हीनता की विवृत्ति है। साथ ही अपनी सरसता एवं मधुरता में वह दोनों के बीच में रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर देती है। मर्यादावादी कवियों को प्रथम प्रकार की भक्ति अधिक रुचिकर प्रतीत होती है जिसे हम सामान्यतया सेवक-सेव्य भाव की भक्ति कहते हैं। वे कवि जिन्हें केवल प्रेम एवं राग का नाता ही भाता है; जिनके लिए प्रेम की तीव्रता के सम्मुख संसार की समस्त मर्यादा व्यर्थ और थोथी प्रतीत होती है, उन्हें मधुर भाव प्रिय है। सेनापति की भक्ति भावना प्रथम कोटि में आती है।

उसकी सघनता का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि अनेक स्थलों पर कवि अपनी अलंकारिक प्रवृत्ति को भूल गया है। 'अलंकार' उसे सर्वाधिक प्रिय थे। तन्मयता की स्थिति में ही अपनी सर्वप्रिय वस्तु को भूलकर वह भाव की सरल भूमि पर उतर आता है। ऐसे स्थल एक नहीं अनेक हैं। देखिए—

'देव दया-सिन्धु, सेनापति दीन-बंधु सुनौ,
आपने विरद तुम्हें कैसे बिसरत हैं।
तुम ही हमारे धन, तोसौं बाँध्यौ पेन-पन
और सौं न मानै मन, तोही सुमिरत हैं॥
तोही सौं बसाइ, और सूझै न सहाइ, हम
यातें अकुलाइ, पाइ तेरेई परत हैं।
मानौं कै न मानौं, करौ सोई जोई जिय जानौं,
हम तौ पुकार एक तोही सौं करत हैं॥'[1]

यहाँ कवि न केवल अपनी अलंकरण शैली को भूल गया है वरन् हृदय के सरल भाव को व्यंजित करने में तन्मयता की उस स्थिति में पहुँच गया है जहाँ भक्ति भक्त को अनन्य एवं एकनिष्ठ बना देती है।

कवि को इस एकनिष्ठ उपासना की प्राप्ति कराने में स्वयं भगवान का पूर्व-चरित सहायक हुआ है। वह जानता है कि—

"धीवर कौं सखा है, सनेही बनचरन कौं
गीध हू कौं बंधु सबरी कौं मिहमान है।
पंडव कौं दूत, सारथी है अरजुन हू कौं,
छाती विप्र-लात कौं धरैया तजि मान है॥
व्याध अपराध-हारी स्वान समाधान कारी,
करै छरीदारी, बलि हू कौं दरवान है।
ऐसौ अवगुनी! ताके सेइब कौं तरसत,
जानियै न कौंन सेनापति के समान है॥"[2]

---

१. पाँचवीं तरंग, छंद ५ २. पाँचवीं तरंग, छंद १९

भगवान के जगत विश्रुत विरद के सतत स्मरण के कारण ही भक्त कवि विश्वास के उस सम्बल का अधिकारी हुआ जिसके बल पर उसे कलिकाल को भी चुनौती देने में हिचक नहीं हुई—

एरे कलिकाल! मोहिं कालौं न निदरि सकै,
तू तौ मति मूढ़ अति कायर गँवार को।
सेनापति निरधार, पाइपोस बरदार,
हौं तौ राजा रामचंद जू के दरबार को॥[1]

कहना न होगा कि यह पक्तियाँ तुलसी का स्मरण करा देतीं हैं।

विश्वास की सघनता आत्मीयता को जन्म देती है। आत्मीयता के कारण कवि थोड़ा ढीठ हो जाता है और वह प्रेम भरा अट-पटा तर्क भी करने लगता है—

आपने करम करि हौं ही निवहौंगौ, तौव
हौं ही करतार, करतार तुम काहे के ?।[2]

कवि की, विश्वास, अनन्यता, तया तन्मयता भरी भक्ति-भावना यहीं तक सीमित नहीं रही; और अन्ततः वह विस्तार की उस सीमा को स्पर्श कर गई जहां अनेक भावों की स्थिति एक भक्ति भाव में ही देखी जा सकी—

रोस करौं तोसौं, दोस तोही कौं सहस देहुँ,
तोही कान्ह कोसौं बोलि अनुचित बानियै।
तुही एक ईस, तोहि तजि और कासौं कहौं,
कीजै आस जाको अमरष ताकौं मानियै॥
जीवन हमारी, जग जीवन तिहारे हाथ,
सेनापति नाथ न रुखाई मन आनियै।
तेरे पगन की धूरि, मेरे प्रानन की मूरि (?)
कीजै लाल सोई, नीको जोई जिय जानियै॥[3]

---

१. पाँचवीं तरंग, छंद २३ २. पाँचवीं तरंग, छंद २९ ३. पाँचवीं तरंग, छंद ३०

अपनी भक्ति-भावना के चरम आवेश में एक गंगा-भक्त ने भी ठीक इसी प्रकार के उद्गार प्रकट किए थे—

> दोसहुँ तोहिं औ कोसहुँ तोहिं औ रोसहुँ तोहीं सो कै मन ताता।
> गावहुँ तोहिं औ ध्यावहुँ तोहिं औ पावहुँ तोहिं सो मैं सुख साता॥
> सोई विचारि छमौ 'लेखराज' की चूक सबै अब जन्हु की जाता।
> पूत कपूत लखे जग कोटिन पै न लखी सुनी केहूँ कुमाता॥ [1]

सेनापति की यह तन्मयता ही हमें उनके उद्गारों में विनय की सप्त-भूमिकायें दिखाने में समर्थ हुई है।

(क) हिए न भगति जातैं होत सुभ गति, — दीनता
(ख) तन तीरथ चलत मन ती रथ चलत है — भयदर्शन
(ग) मानौं कै ना मानौं करौ सोई जोई जिय जानौ,
हम तौ पुकार एक तो ही सो करत है। — माननर्षण
(घ) अब तू जरा में परयो मोह पींजरा में,
सेनापति भजु रामै जो हरैया पर पीर के। — भर्त्सना
(ङ) एसौ अवगुनी ताके सेइवे को तरसत,
जानिए न कौन सेनापति के समान है। — आश्वासन
(च) सेनापति चाहत हैं सकल जनम भरि,
वृन्दावन सीमा तें न बाहर निकसि बौ। — मनोराज्य
(छ) दृगन सौं देखै विस्वरूप है अनूप जाकौं
बुद्धि सौं विचारै निराकार निराधार है। — विचारण

'विनय' की ये अनेक भूमिकायें केवल भक्ति-भावना के मुखरित होने से ही नहीं, अनुभूति के सघन होने पर ही अभिव्यक्त हो सकती हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह उठता है कि यदि कवि की शृंगारिक अनुभूतियां और भी सघन हों तो? तब तो निश्चय ही उसके काव्य में शृंगारिकता प्रधान मानी जायगी?

---

[1] गंगाभरण—श्री नन्दकिशोर मिश्र, 'लेखराज', गंधौली (जिला सीतापुर-अवध) निवासी।

पिछले पृष्ठों में हमने सेनापति के श्रृंगार-वर्णन पर विस्तार से विचार किया है। अतएव उसकी पुनरावृत्ति यहाँ अपेक्षित नहीं। यहाँ हम केवल उसके आधार पर प्राप्त निष्कर्षों की चर्चा करके आगे वढ़ेंगे।

(क) श्रृंगार-वर्णन में कवि अपनी अलंकारिकता को एक क्षण के लिए भी विस्मृत नहीं कर सका है अतः श्रृंगारिक अनुभूतियों की तीव्रता में सन्देह होता है।

(ख) श्रृंगारिक अनुभूतियों में कवि ने सामान्य वातों की चर्चा करके ही सन्तोष कर लिया है; देव और विहारी आदि कवियों की भाँति मिलन एवं हास-परिहास के विविध प्रसंगों की उद्भावना उसने नहीं की है।

(ग) मिलन के दृश्यों की योजना करते समय भी उसकी दृष्टि मर्यादा का उल्लंघन नहीं करती। और वह सुरतांत आदि का वर्णन नहीं करता।

(घ) कवि ने प्रकृति-वर्णन को उद्दीपन के रूप में ही रखा है फिर भी वर्णन की विशदता एवं निरीक्षण की सूक्ष्मता इसी लिए है कि श्रृंगार की विलासमयी भावनायें उसके कवि-रूप को पूर्णतः आच्छादित नहीं कर लेतीं।

(ङ) कवि ने कहीं-कहीं ऐसे दृश्यों का चित्रण भी किया है जो औचित्य-पूर्ण नहीं कहे जा सकते किन्तु इसे युग की मांग के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, कवि की व्यक्तिगत मनोवृत्ति के रूप में नहीं।

(च) कवि ने जहाँ विलासमय दृश्यों का ग्रहण किया है वहाँ वह एक वर्ग विशेष के जीवन की चर्चा करता हुआ स्वतः तटस्थ सा प्रतीत होता है।

अस्तु, यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि सेनापति की भक्तिमय अनु-भूतियाँ वैयक्तिक जीवन की अनुभूतियाँ हैं और श्रृंगारिक अभिव्यक्तियां वर्ग विशेष के जीवन की झांकियां हैं। फलतः प्रथम में अनुभूति की सघनता और द्वितीय में अभिव्यक्ति की अलंकारिकता एवं परम्परा की मांग है।

जहाँ तक सेनापति के काव्य की प्रेरक शक्तियों का प्रश्न है, इसमें दो रायें नहीं हो सकतीं कि उसमें युग-भावना ने वहुत वड़ा प्रभाव डाला है। साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि सेनापति का काव्य केवल फरमायशी नहीं। किसी राजा को काव्य-समर्पण की वात अनुमानाधारित ही है। अतः निश्चय

पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि किसी व्यक्ति विशेष की विलास-तृषा को तृप्त करने के लिए ही सेनापति ने काव्य-रचना की। अलंकार और रस का वर्णन कवि-पंथ-पालन के लिए ही जान पड़ता है। अतएव सेनापति की काव्य-प्रेरणा विहारी और देव आदि की काव्य-प्रेरणा की कोटि में नहीं आती। अन्तिम दोनों कवियों का काव्य, युग की शृंगार-भावना और आश्रय दाताओं की विलास चेष्टा का फल है किन्तु सेनापति का काव्य, युग भावना का प्रतिविम्ब एवं आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति दोनों की मिली-जुली धारा है।

प्रेरक शक्तियाँ

लोक चेतना ने निश्चय ही सेनापति को भक्तों की श्रेणी में स्थान नहीं दिया। तुलसी, सूर, मीरा, कवीर आदि भक्त-कवियों की चर्चा के साथ कहीं भी सेनापति की चर्चा नहीं हुई। उनकी भक्ति-भावना के विरुद्ध यह एक वहुत वड़ा तर्क रखा जा सकता है। किन्तु इसके निवारणार्थ यह भी कहा जा सकता है कि सेनापति ने लोकजीवन की विस्तृत भावभूमि पर उतर कर अपनी भक्ति की आवेशमयी भावना प्रकट नहीं की। कदाचित उनमें भक्तों का वह आवेश था भी नहीं जो व्यक्ति को भक्त के अतिरिक्त और कुछ रहने ही नहीं देता।

लोक चेतना की स्वीकृति

प्रस्तुत प्रसंग में विद्वानों की सम्मतियों का भी मूल्य है। इसकी चर्चा हम कर आए हैं। प्रसंगवश यहाँ हम कुछ मान्य विद्वानों की सेनापति विषयक धारणायें उन्हीं के शब्दों में रखना चाहेंगे।

विद्वानों की सम्मतियाँ

क—"ये महाराज पूर्ण कवि होने के अतिरिक्त पूरे भक्त भी थे। . . . . सूरदास और तुलसीदास जी की भाँति सेनापति भी ऋषि थे।"

× × ×

इनकी प्रगाढ़ भक्ति भी इनके जीवन का एक प्रधान गुण है। . . . . सेनापति की भक्ति सूरदास और तुलसीदास की भक्ति से शायद कुछ ही कम हो। मिश्रवन्धु विनोद, द्वितीय भाग, पृ० ४४२।

ख—चौथी तरंग में राम की कथा का वर्णन इन्होंने भक्ति और पाण्डित्य मिलाकर किया है। . . . . . इनकी भक्ति भी उत्कृष्ट प्रकार की है जिस प्रकार रचना अत्यन्त सरस है।" . . . . .

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामकुमार वर्मा, पृ० ६७९।

ग—"सिद्धान्त की दृष्टि से सेनापति भी गोस्वामी जी की परम्परा में आते हैं। वे राम के उत्कट भक्त थे।" कवित्त-रत्नाकर, भूमिका पृ० १९।

घ—"इनकी (सेनापति) पिछले समय की भक्ति और विराग की रचनायें चित्त पर स्थायी प्रभाव डालती हैं।"

हिन्दी-साहित्य—बाबू श्यामसुन्दर दास, पृ० २०१।

इन सम्मतियों से इतना तो स्पष्ट है कि सेनापति को कम से कम इन आलोचकों ने भक्त-रूप में स्वीकार किया है। हिन्दी-साहित्य में इन विद्वानों के मत का मूल्य सर्वविदित है।

कविद्वारा प्राप्त संकेत

प्रस्तुत प्रसंग को समाप्त करने के पूर्व हम अपनी अन्तिम कसौटी का आधार लेना आवश्यक समझते हैं; और वह है कवि का अपनी भावनाओं एवं विचारों के विषय में दिया गया निज का मत। संकेत रूप में ही क्यों न हो प्रायः प्रत्येक कवि के विचार उसकी कृतियों में मिल जाते हैं। सूर ने स्पष्ट कह दिया था—

"रूप रेख गुन जाति जुगुति बिन निराधार मन चक्ति धावै।"
सब विधि अगम विचारहिं तातैं सूर सगुन लीला पद गावै।

इसी प्रकार मीरा ने भी कहा था—

"मैं गोविन्द गुण गाणा।
राजा रुठै नगरी राखै, हरि रुठ्यां कह जाणा।"

इसी प्रकार की उक्तियाँ कबीर, तुलसी आदि सभी कवियों में मिल जाती हैं। जिनसे कम से कम कवि अपने काव्य को क्या समझकर लिख रहा था तथा उसकी भावना का क्या स्वरूप था यह प्रकट हो जाता है।

सेनापति ने भी अपनी काव्य-साधना को सीता-पति का ही प्रसाद माना है—

"सेनापति सोई, सीतापति के प्रसाद जाकी
सब कवि कान दै सुनत कविताई है।"

तुलसी की कवित्व शक्ति के मूल में भी शंकर का प्रसाद था—

"शम्भु प्रसाद सुमति हिय हुलसी, राम चरित मानस कवि तुलसी।"

साथ ही सेनापति यह वार-बार कह देना चाहते हैं कि वे केवल काव्य-रचना ही नहीं कर रहे हैं वरन राम की अर्चना भी कर रहे हैं—

"रामै अरचत सेनापति चरचत दोऊ,
कवित रचत यातें पद चुनि-चुनि है।"

× × ×

जैसे बिन अनल, सलिल ही कौं दीपक दै,
दीपति निधान भानं कौं भलौ मनाइयै॥
ऐसे, थोरी उकति, जुगति करि सेनापति,
राजा राम तीनि लोक तिलक रिझाइयै।

× × ×

पूरब पुरुष, हृषीकेस गुन-धाम राम,
सेनापति ताहि विनवत बार बार है।

उपर्युक्त संकेतों से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है।"

१—सेनापति का काव्यत्व राम की कृपा का ही प्रतिफल है।
२—सेनापति काव्य-रचना के साथ राम की अर्चना भी कर रहा है।
३—सेनापति की काव्योक्तियाँ भगवान राम को रिझाने के लिए हैं।
४—सेनापति वार-वार पूर्ण पुरुष की विनती कर रहा है।

निर्णीत तथ्य

ऊपर के समस्त विवेचन के आधार पर हम निम्नलिखित तथ्यों का साक्षात् कर सकते हैं, जिनके आधार पर हमें सेनापति की अन्तर्वृत्ति की संबन्ध में अन्तिम निर्णय देने में सरलता होगी।

१—संस्कृत के साहित्य, शास्त्रियों ने, चाहे जिस कारण से भी हो, भक्ति को पृथक् रस नहीं माना। भक्ति को रस-रूप में वैष्णव भक्तों ने स्वीकार किया किन्तु शास्त्रों के नियम समान रूप से सर्वत्र लागू होने चाहिए। अतः साहित्य-शास्त्र के अन्तर्गत यह निर्णय नहीं दिया जा सकता कि अमुक समुदाय के लिए यह 'भक्ति-रस' है और अमुक के लए 'शृंगार-रस'। अतः साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से 'भक्ति-रस' सम्वन्धी रचनायें भी शृंगारी ही कही जायँगी। विशेषकर 'मधुर-रस' की भक्ति तो शृंगार के अन्तर्गत ही मानी जायगी।

२—आज का मनोवैज्ञानिक भी 'भक्ति' को, केवल आलम्वन के अपार्थिव होने के कारण पृथक् 'रस' मानने को प्रस्तुत नहीं क्योंकि 'भक्ति-रस' को भक्तों ने आत्मा का धर्म माना है और लौकिक शृंगार से पृथक् उसे आध्यात्मिक शृंगार वताया है किन्तु मनोवैज्ञानिक 'आत्मा' की पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं करते।

३—भक्तों ने शृंगारी रचनायें की हैं और शृंगारियों ने भी भक्ति-भावना को अभिव्यक्ति दी है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से विभिन्न मनस्थितियों में एक ही व्यक्ति के द्वारा विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति हो सकती है। किसी कवि की सदैव एक ही मनस्थिति हो, ऐसा कैसे माना जा सकता है?

उपर्युक्त तीनों तथ्यों को दृष्टि में रखकर जव हम सेनापति की अन्तर्वृत्ति के प्रति निश्चित दृष्टिकोण वनाने का प्रयत्न करते हैं तो निम्नलिखित निष्कर्षों तक पहुंचते हैं।

निष्कर्ष

सेनापति को यदि केवल काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से देखना है तो निश्चय ही वे एक शृंगारी कवि हैं क्योंकि 'शृंगार' के अतिरिक्त 'रति' स्थायी भाव से कोई रस परिपक्व हो ही नहीं सकता। किन्तु यह 'शृंगार-वर्णन' कवि की आत्मा की पुकार नहीं है, युग प्रवृत्तियों की माँग है। स्पष्ट किया जा चुका है कि कविका काव्यादर्श अलंकार-योजना, छन्द-योजना, पाण्डित्य प्रदर्शन चमत्कारिकता, पर अधिक विश्वास करता है। अतः शृंगारिकता भी उसके काव्य की मूल प्रवृत्ति नहीं है। सेनापति के काव्य की मूल प्रवृत्ति अलंकार है।

कवि की वैयक्तिक भावना भक्ति-मूलक ही है। यह भक्ति दास्य भाव की है, अतः विनय प्रधान है। भक्त, एक कवि भी है और ऐसा कवि है जिसे अलंकार प्रिय हैं फलतः यह भक्ति-भावना भी अलंकृत रूप में व्यक्त हुई है। फिर भी अनेक स्थलों पर भक्ति के भाव प्रधान हो गए हैं और अलंकरण की प्रवृत्ति दब गई है।

अनुभूति की सघनता, स्वयं कवि के संकेत, तथा विद्वानों की सम्मतियाँ ये सभी आधार कवि के भक्त होने के साक्षी हैं। लोक चेतना में भक्त-रूप में उसकी प्रसिद्धि इसलिए नहीं हुई कि वह लोक जीवन की सामान्य भाव-भूमि पर न उतर कर काव्य की अलंकृत भूमि पर ही विचरण करता रहा। सम्भव है यदि वह रीति-युग में उद्भूत न होकर भक्ति-युग में अपना व्यक्तित्व विकास कर सका होता तो उसके काव्य का रूप कुछ और ही होता।

हाँ, यह अवश्य है कि सेनापति ऐसे कवि नहीं थे जिनका काव्य, भक्ति-भावना का परिणाम रहा हो। भक्ति के आवेश में वे कुछ गाते गए हों और वह काव्य बन गया हो, ऐसा नहीं। वे कवि थे; एक विद्वान कवि थे। काव्य के क्षेत्र में युग प्रवृत्तियों का आदर करते थे किन्तु काव्य उनका साध्य नहीं था वरन् वह उनके ईष्ट देव को रिझाने का एक साधन था।

ऐसे, थोरी उकति, जुगति करि सेनापति,
राजाराम तिनि लोक तिलक रिझाइये।

सेनापति का प्रकृति-वर्णन

व्यावहारिक एवं स्थूल दृष्टि से मानवेतर समस्त गोचर सत्ता 'प्रकृति' कही जाती है किन्तु सूक्ष्म एवं दार्शनिक दृष्टि से गोचर जगत के अतिरिक्त मानव शरीर, ज्ञानेन्द्रियां, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि सभी तत्व प्रकृति के अन्तर्गत सन्निहित कर लिए जाते हैं। इस प्रकार प्रायः इस अर्थ में प्रकृति शब्द 'माया' का समानार्थी हो जाता है। काव्य-जगत में 'प्रकृति' अपने व्यावहारिक अर्थ में ही ग्रहीत होती रही है। कम से कम 'प्रकृति-वर्णन' में तो निश्चय ही व्यावहरिक अर्थगत रूप ही वर्णित होता आया है।

मानव-जीवन का विकास ही प्रकृति की गोद में हुआ है। अतः जीवन की किसी भी धारा में वह प्रकृति को विस्मृत करने में असमर्थ रहा है। काव्य भी जीवन की सौंदर्यमयी अभिव्यक्ति है। फलतः इसके अन्तर्गत भी जीवन के साथ ही 'प्रकृति' के विविध रूपों की अभिव्यक्ति भी बराबर होती आई है।

काव्य की आत्मा रस मान लेने पर, उसके अन्तर्गत शेष गोचर जगत, भावाश्रय या भावालम्बन अथवा भावोद्दीपन के रूप में ही आ सकता है। कदाचित इसीलिए आचार्य शुक्ल ने काव्य में 'विभाव पक्ष' की महत्ता पर बल दिया है। जहां तक भावाश्रय का प्रश्न है वह तो निश्चय ही चेतन व्यक्तित्व ही हो सकता है। अतः प्रकृति की उपस्थिति दो ही रूपों में सम्भव है—आलम्बन रूप में या उद्दीपन रूप में।

यहाँ पर एक बात और विचारणीय है। काव्य में प्रकृति जिस रूप में उपस्थित होती है क्या वह उसका पूर्ण स्वतन्त्र रूप है? ऐसा कैसे हो सकता है? कवि अपनी भावनाओं से मुक्त होकर प्रकृति-चित्रण करने नहीं बैठता। यदि ऐसा होता तो कवि विशेष को प्रकृति के चित्र विशेष ही क्योंकर सुन्दर लगते? ऐसी स्थिति में यह मानना होगा कि काव्य में स्वतन्त्र कहा जाने वाला प्रकृति-वर्णन भी मानवीय भावों से अनुरंजित होकर ही सामने आता है। यह मानवीय 'भाव' गोचर जगत की रूपात्मक और क्रियात्मक सत्ता की प्रतिक्रिया रूप में ही उद्भूत होते हैं। अतः प्रकृति का स्वतन्त्र या 'आलम्बन' कहा जाने वाला स्वरूप भी उद्दीपन ही है। जो भी हो, यह तो एक स्वतन्त्र विचार का विषय है। हम इतना अवश्य कहेंगे कि काव्य-शास्त्रीय परम्परा ने 'अद्भुत' और भयानक रसों के परिपाक में प्रकृति को आलम्बन रूप में मानने में संकोच नहीं किया। अन्य रसों में प्रकृति का प्रेम, भाव मात्र ही माना गया। विशेषकर 'शृंगार-रस' में तो प्रकृति आलम्बन हो ही नहीं सकती। शृंगार-रस में आलम्बन में चेतनना अनिवार्य है। इसमें आलम्बन भी आश्रय और आश्रय भी आलम्बन रूप में माना जाता है।

मध्य-युग में—विशेषतः रीतियुग में—प्रकृति का वर्णन 'शृंगार-रस'

के अन्तर्गत ही किया गया। यही कारण है कि प्रायः उद्दीपन के अन्तर्गत ही प्रकृति के दृश्यों के चित्रण की एक परम्परा ही चल पड़ी।

सेनापति ने श्रृंगारकालीन प्रवृत्तियों का पूर्ण निर्वाह किया है। अतः उनका ऋतु-वर्णन भी अन्य कवियों की भाँति मूलतः उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही आता है। साथ ही उसमें कुछ अन्य विशेपतायें भी हैं जो आलोचकों को आकर्षित करती रही हैं। आगे के पृष्ठों में इन विशेषताओं पर विस्तार से विचार किया जायगा।

निरीक्षण के क्षेत्र

मध्ययुग तक आते आते मानवता, प्रकृति के मुक्त, स्वस्थ एवं स्वछन्द पर्यंक से निकल कर नागरिक सभ्यता के कृत्रिम वैभव-विलास में रस लेने लगी थी। फलतः मध्ययुग के मानव के लिए प्रकृति का स्वतन्त्र सौंदर्य देखना स्वप्न की वस्तु हो गई थी। इसीलिए रीतिकाल का कवि, आदिकवि की भाँति न तो ओस-बिन्दुओं से भींगी हुई हरी-हरी घास तथा उसपर उदयकालीन सूर्य की कोमल किरणों का प्रसार देख सकता था और न अत्यन्त प्यासे हाथी का शीतल जल छूकर अपनी सूँड़ को समेटना।[1] उसकी दृष्टि पुरातन प्रेम के वशीभूत, अनन्त साहचर्य का स्मरण करती हुई, मानव-रुचि के अनुकूल कट-छँटकर सिमटती सिकुड़ती नागरिक सभ्यता के क्रोड़ में चली आई हुई प्रकृति के उपकरणों तक ही जा सकती थी। सेनापति ने भी यही किया। उन्होंने पर्वत की रमणीय उपत्यकाओं में बैठकर प्रकृति-सौंदर्य का निरीक्षण नहीं किया। उनका निरीक्षण भी सामन्तीय वातावरण में बैठकर महलों के वातायनो से हुआ है। किन्तु इस सीमित क्षेत्र में भी कवि अपनी दृष्टि का प्रसार कर सका है। यही उसकी महानता है। महलों के वातायनों से देखता हुआ भी प्रकृति में होने वाले छोटे से छोटे, कोमल से कोमल और

---

१. अवश्याय निपातेन किंचित्प्रक्लिन्न शाद्वला।
बनानां शोभते भूमि निर्विष्ट तरुणातपा॥
× ×
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्त तृषितो वन्यः प्रति संहरते करम्॥

सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तनों को लक्ष्य करने में वह सफल हुआ है। यदि उसने प्रकृति एवं ऋतुओं के अनुकूल (जीवन की गति-विधि में होने वाले) सामन्तों की विलास चेष्टाओं, दैनिक कृत्यों एवं अन्य परिवर्तनों को लक्ष्य किया है तो दूसरी ओर जन-साधारण के जीवन की विवशता को भी वाणी दी है। इस प्रकार कवि का निरीक्षण नागरिक सभ्यता के भीतर सीमित होते हुए भी विभिन्न क्षेत्रों में विस्तार पा सका है। प्रमुखतः सेनापति के निरीक्षण के तीन क्षेत्र हैं—

१—प्रकृति के स्वरूप का निरीक्षण।

२—सामन्तीय जीवन पर उसके प्रभाव का निरीक्षण।

३—जन-साधारण के जीवन की परिस्थिति-जन्य विवशता का निरीक्षण।

यहाँ इन तीनों क्षेत्रों में कवि की पूर्ण सफलता के साक्षी चित्र अप्रासंगिक न होंगे देखिए, ग्रीष्म-ऋतु में सामन्त जीवन की एक झाँकी—

सुंदर विराजैं राज-मंदिर सरस, ताके
बीच सुख-दैनी, सैनी सीरक उसीर की।
उछरै सलिल, जल-जंत्र ह्वै विमल उठैं,
सीतल सुगन्ध मन्द लहर समीर की॥
भीने हैं गुलाब तन सने हैं अरगजा सौं,
छिरकी पटीर नीर टाटी तीर-तीर की।
ऐसे विहरत दिन ग्रीषम के बितवत,
सेनापति दम्पति मया तैं रघुबीर की॥[1]

दूसरी ओर शीत ने जन-साधारण को कितना विवश कर दिया है—

धम नैन वहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिए सौं लगाइ रहैं नैंक सुलगाइ कै।
मानों भीत जानि, महा सीत तैं पसारि पानि,
छतियाँ की छाँह राख्यौ पाउक छिपाइ कै॥[2]

१. तीसरी तरंग, छंद १७ २. तीसरी तरंग, छंद ४५

और जब जीवन से हट कर कवि अपनी दृष्टि प्रकृति के अंचल में गड़ा देता है तो भी उसका निरीक्षण सराहनीय ही नहीं सूक्ष्म भी हो जाता है—ग्रीष्म का निरीक्षण देखिए—

वृष कौं तरनि तेज सहसौं किरन करि,
ज्वालन के लाज विकराल बरसत हैं।
तचति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी
छाँह कौ पकरि पंथी-पंछी विरमत हैं॥
सेनापति नैंक दुपहरी के ढरत, होत
धमका विषम ज्यौं न पात खरकत हैं।
मेरे जान पौनौं सीरी ठौर कौं पकरि कौनौं,
घरी एक बैठि कहूँ घामैं बितवत हैं॥[1]

विभाव पक्ष में प्रकृति

कहा जा चुका है कि सेनापति ने भी प्रकृति को उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही रखा है। किन्तु कहीं-कहीं उद्दीपन की भावना इतनी अप्रधान और सांकेतिक है कि सारा वर्णन स्वतन्त्र सा प्रतीत होता है। और ऐसा लगता है कि कवि स्वयं आश्रय बनकर प्रकृति को आलम्बन रूप में ग्रहण कर रहा है। साथ ही अधिकांश स्थल तो स्पष्ट ही उद्दीपन रूप में लाए गए हैं।

उद्दीपन का संकेत मात्र

जहाँ कवि उद्दीपन का संकेत मात्र करता हुआ अपनी दृष्टि प्राकृतिक उपकरणों एवं ऋतु-अनुकूल उनमें होने वाले विविध परिवर्तनों पर रखता है वहाँ उसके चित्रण प्राचीन संस्कृत के ऋषि कवियों का स्मरण करा देते हैं—शरद का एक चित्र देखिए—

पाउस निकास तातैं पायौ अवकास, भयौ
जोन्ह कौं प्रकास, सोभा ससि रमनीय कौं।
विमल अकास, होत वारिज विकास, सेना-
पति फूले कास, हित हंसन के हीय कौं॥

१. तीसरी तरंग, छंद ११

सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तनों को लक्ष्य करने में वह सफल हुआ है। यदि उसने प्रकृति एवं ऋतुओं के अनुकूल (जीवन की गति-विधि में होने वाले) सामन्तों की विलास चेष्टाओं, दैनिक कृत्यों एवं अन्य परिवर्तनों को लक्ष्य किया है तो दूसरी ओर जन-साधारण के जीवन की विवशता को भी वाणी दी है। इस प्रकार कवि का निरीक्षण नागरिक सभ्यता के भीतर सीमित होते हुए भी विभिन्न क्षेत्रों में विस्तार पा सका है। प्रमुखतः सेनापति के निरीक्षण के तीन क्षेत्र हैं—

१—प्रकृति के स्वरूप का निरीक्षण।

२—सामन्तीय जीवन पर उसके प्रभाव का निरीक्षण।

३—जन-साधारण के जीवन की परिस्थिति-जन्य विवशता का निरीक्षण।

यहाँ इन तीनों क्षेत्रों में कवि की पूर्ण सफलता के साक्षी चित्र अप्रासंगिक न होंगे देखिए, ग्रीष्म-ऋतु में सामन्त जीवन की एक झाँकी—

सुंदर विराजैं राज-मंदिर सरस, ताके
बीच सुख-दैनी, सैनी सीरक उसीर की।
उछरैं सलिल, जल-जंत्र ह्वै विमल उठैं,
सीतल सुगन्ध मन्द लहर समीर की॥
भीने हैं गुलाब तन सने हैं अरगजा सौं,
छिरकी पटीर नीर टाटी तीर-तीर की।
ऐसे विहरत दिन ग्रीषम के विलवत,
सेनापति दम्पति मया तैं रघुवीर की॥[1]

दूसरी ओर शीत ने जन-साधारण को कितना विवश कर दिया है—

धूम नैंन वहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिए सौं लगाइ रहैं नैंक सुलगाइ कै।
मानौ भीत जानि, महा सीत तै पसारि पानि,
छतियां की छाँह राख्यौ पाउक छिपाइ कै॥[2]

---

१. तीसरी तरंग, छंद १७ २. तीसरी तरंग, छंद ४५

और जब जीवन से हट कर कवि अपनी दृष्टि प्रकृति के अंचल में गड़ा देता है तो भी उसका निरीक्षण सराहनीय ही नहीं सूक्ष्म भी हो जाता है—ग्रीष्म का निरीक्षण देखिए—

वृष कौं तरनि तेज सहसौं किरन करि,
ज्वालन के लाज विकराल बरसत है।
तचति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी
छाँह कौ पकरि पंथी-पंछी बिरमत हैं॥
सेनापति नैंक दुपहरी के ढरत, होत
घमका विषम ज्यौं न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौं सीरी ठौर कौं पकरि कौनौं,
घरी एक बैठि कहूँ घामैं बितवत है॥[1]

विभाव पक्ष में प्रकृति

कहा जा चुका है कि सेनापति ने भी प्रकृति को उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत ही रखा है। किन्तु कहीं-कहीं उद्दीपन की भावना इतनी अप्रधान और सांकेतिक है कि सारा वर्णन स्वतन्त्र सा प्रतीत होता है। और ऐसा लगता है कि कवि स्वयं आश्रय बनकर प्रकृति को आलम्बन रूप में ग्रहण कर रहा है। साथ ही अधिकांश स्थल तो स्पष्ट ही उद्दीपन रूप में लाए गए हैं।

उद्दीपन का संकेत मात्र

जहाँ कवि उद्दीपन का संकेत मात्र करता हुआ अपनी दृष्टि प्राकृतिक उपकरणों एवं ऋतु-अनुकूल उनमें होने वाले विविध परिवर्तनों पर रखता है वहाँ उसके चित्रण प्राचीन संस्कृत के ऋषि कवियों का स्मरण करा देते हैं—शरद का एक चित्र देखिए—

पाउस निकास तातैं पायौ अवकास, भयौ
जोन्ह कौं प्रकास, सोभा ससि रमनीय कौं।
विमल अकास, होत वारिज बिकास, सेना-
पति फूले कास, हित हंसन के हीय कौं॥

---

१. तीसरी तरंग, छंद ११

छिति न गरद, मानौं रँगे हैं हरद सालि,
सोहत जरद, को मिलावै हरि पीय कौं ।
मत्त हैं दुरद, मिट्यौ खंजन-दरद, रितु
आई है सरद सुखदाई सब जीय कौं ॥[1]

कहना न होगा कि यदि समस्त वर्णन में से "को मिलावैं हरि पीय कौं" पद निकाल दिया जाय तो उद्दीपन का कोई संकेत नहीं रह जायगा और सारा वर्णन स्वतन्त्र, सूक्ष्म एवं शुद्ध रूप में आलम्बन विभाव के अन्तर्गत आ जायगा।

स्पष्ट उद्दीपन

सेनापति के अधिकांश प्रकृति-चित्र उद्दीपन की स्पष्ट भूमिका प्रस्तुत करते हैं। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि उनमें प्रभाव-उत्पादन की अद्‌भुत क्षमता है और वे सजीव भी हैं। उद्दीपन के भी दो पक्ष मानें गए हैं। संयोग के अवसर पर प्रकृति, नायक-नायिका के हृदय में स्फूर्ति, उल्लास, सुख एवं मधुर स्वप्नों की उद्‌भाविका बनकर आती है। वियोग के अवसर पर वह क्षोभ, कष्ट विपाद, खीझ-आदि भावों को उद्दीप्त कर हृदय को मार्मिक व्यथा से भर देती है। सेनापति ने उद्दीपन के दोनों स्वरूपों को सजीव करने में पर्याप्त रुचि दिखाई है।

संयोग-पक्ष में उद्दीपन

चैत्र का सुन्दर प्रभात है। राजमन्दिर की वाटिका का यौवन विकास की चरम सीमा स्पर्श कर रहा है। पवन की गति मन्द है। वातावरण पुष्प गन्ध से सुगन्वित हो गया है। राग-रस से मत्त नायिका पुष्प-भूषणों से श्रृंगार कर रही है। नायिका का अलस स्वभाव यौवन की मादकता प्रकट कर रहा है। नायक-नायिका की अनुकूलता और प्रकृति की मादकता से प्रेम-मत्त होकर मुस्कुरा रहा है—

सरस सुधारी राज-मंदिर मैं फुलवारी,
मोर करैं सोर, गान कोकिल चिराव के ।
सेनापति सुखद समीर है, सुगंध मंद,
हरत सुरत-स्रम-सीकर सुभाव के ॥

---

१. तीसरी तरंग, छंद ३७

प्यारी अनुकूल, कौंहू करत करन-फूल
कौंहू सीसफूल, पावँड़ेउ मृदु पाँव के।
चैत में प्रभात, साथ प्यारी अलसात, लाल
जात मुसकात, फूल बीनत गुलाब के॥[1]

प्रियतम के प्रवास-काल में प्रकृति की सारी मधुरिमा और भी कसक पैदा करती है। देखिए न, वियोगिनी नायिका को 'फागुन' कराल

वियोग में उद्दीपन

लग रहा है; फूला हुआ रसाल उसके हृदय में साल रहा है और गुलाल डालने के लिए प्रस्तुत सखी को वर्जित करती हुई वह अपनी विवशता प्रकट कर रही है :—

बिछुरे गुपाल लागैं फागुन कराल, तातैं
भई है बिहाल, अति मैले तन भेस हैं।
फूल्यौ है रसाल सो तौ भयो उर साल, सखी
डार न गुलाल, प्यारे लाल परदेस हैं॥[2]

सेनापति ने प्रकृति को चाहे जिस रूप में ग्रहण किया हो, यह मानना होगा कि उनकी चित्रण-कला रीतिकालीन अन्य सभी कवियों से

चित्रण-कला

बहुत आगे निकल गई है। अगले पृष्ठों में उनकी चित्रण-कला सम्बन्धी कुछ सामान्य विशेषताओं पर हम विचार करेंगे।

आचार्य शुक्ल ने चित्रण के दो सामान्य रूपों का उल्लेख किया है। एक को उन्होंने अर्थग्रहण मात्र कराने वाले चित्र और दूसरे को बिम्बग्रहण कराने वाले चित्र बताया है। अर्थग्रहण कराते समय कवि, प्रकृति के

बिम्बात्मक चित्र

उपकरणों का केवल नाम गिनाता चलता है। उनके आधार पर बिम्ब-रूपों की कल्पना पाठक को स्वयं करनी पड़ती है। केशव के अधिकांश वर्णन केवल अर्थग्रहण कराते हैं। उनका 'तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर' वाला प्रसिद्ध वर्णन इसी कोटि का है। सेनापति ने केवल अर्थग्रहण कराने की चेष्टा कहीं नहीं की है। उन्होंने सदैव चित्रों का

---

१. तीसरी तरंग, छंद ६   २. तीसरी तरंग, छंद ५९

विम्व उपस्थित करना चाहा है। इन बिम्वात्मक चित्रों के भी दो रूप मिलते हैं। (क) रूपरंगात्मक विम्व (ख) प्रभावात्मक विम्व। सेनापति के प्रकृति-वर्णन में दोनों प्रकार के 'विम्व' दर्शनीय हैं—

रूप-रंग-प्रधान विम्व

रूप-रंग-प्रधान विम्वात्मक चित्र का एक सुन्दर उदाहरण कवि का पावस-वर्णन का यह छन्द है—

विमल अकास, होत बारिज विकास, सेना-
पति फूले कास, हित हंसन के हीय कौं।
छिति न गरद, मानौं रँगे हैं हरद, सालि
सोहत जरद, को मिलावै हरि पीय कौं॥[1]

आकाश की विमलता, कमल की विकचता, कास का पुष्पित रूप, क्षिति का गरद रहित होना तथा धान का पीत-वर्ण, सभी ओर संकेत करता हुआ कवि मानो अपने चित्र को रूप-रंगों से भर देना चाहता है।

प्रभाव-प्रधान विम्व

इन रुप-रंगों को छोड़कर जहाँ कवि प्रभावशीलता के साथ प्रकृति को उपस्थित करने की चेष्टा करता है वहाँ उसके चित्र अधिक भाव-मय हो गए हैं। यद्यपि यह सत्य है कि कहीं-कहीं कवि की अलंकारवादिता इस प्रभावमयी भावात्मकता में बाधक हुई है; किन्तु जहाँ-कहीं भी कवि इससे थोड़ा भी छुटकारा पा सका है, उसके चित्र भव्यता से अनुभावित हो गए हैं। इसी प्रकार का एक चित्र देखिए।

तपै इत जेठ, जग जात है जरनि जर्यौ,
तापकी तरनि मानौं मरनि करत है।
उतहिं असाढ़ उठै नूतन सघन घटा,
सीतल समीर हिय धीरज धरत है॥
आधे अंग ज्वालन के जाल विकराल, आधे
सीतल सुभग मोद हीतल भरत है।
सेनापति ग्रीषम तपत रितु भीषम है,
मानौ बड़वानल सौं वारिधि वरत हैं॥[2]

१. तीसरी तरंग, छंद ३७ २. तीसरी तरंग, छंद १६

सेनापति ने कहीं-कहीं प्रकृति के परिवर्तनों के साथ जीवन के समानान्तर परिवर्तित रूपों को भी एक साथ ही प्रस्तुत करना चाहा है किन्तु प्राय: वे इसमें असफल रहे हैं। या तो जीवन का चित्र अधिक उभर आया है या प्रकृति के चित्रों में ही उभार दृष्टिगत होता है, या इन दोनों को भूल कर कवि अलंकारों के फेर में पड़ गया है। 'कवित्त-रत्नाकर' की तीसरी तरंग का दूसरा छन्द कवि के इसी प्रकार के असफल प्रयोग की गाथा सुना रहा है—

जीवन के सामानान्तर चलने वाले चित्र

मलय समीर सुभ सौरभ धरन धीर,
सरवर नीर जन मज्जन के काज के।
मधुकर पुंज पुनि मंजुल करत गुंज,
सुधरत कुंज सम सदन समाज के॥
व्याकुल वियोगी, जोग कै सकै न जोगी, तहाँ
बिहरत भोगी सेनापति सुख साज के।
सघन तरु लसत, बोलैं पिक-कुल सत,
देखौ हिय हुलसत आए रितुराज के॥[1]

हम कई वार कह आए हैं कि अलंकार की प्रवृत्ति सेनापति के काव्य के प्रत्येक क्षेत्र में समान रूप से व्याप्त है। फलत: ऋतुवर्णन में भी कवि ने अलंकरण की कम चेष्टा नहीं की है। कवि का यह अलंकरण कहीं तो कोरा चमत्कार-प्रधान हो गया है और कहीं कलात्मक। जहाँ कवि ने उत्प्रेक्षा का आधार लिया है वहाँ उसके चित्र भव्य और प्रभावमयी कलात्मकता के उदाहरण वन सके हैं और जहाँ वह अतिशयोक्ति का आधार ग्रहण करता है वहां कोरा चमत्कार सामने उपस्थित हो जाता है।

अलंकृत चित्र

कवि के कलात्मक अलंकरण का एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारि हू दिसान घुमरत भरे तोइ कै।

१. तीसरी तरंग, छंद २

सोभा सरसाने, न बखाने जात काहू भाँति,
आने हैं पहार मानौं काजर के ढोई कै ॥
घन सौं गगन छयौ, तिमिर सघन भयौ,
देखि न परत मानौं रबि गयौ खोइ कै ।
चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जान याहीं तैं रहत हरि सोइ कै ॥[1]

कलात्मक अलंकरण

पौराणिक विश्वासों के आधार पर कहा जाता है कि आषाढ़ शुक्ल एकादशी को भगवान शेष-शय्या पर शयन करते हैं और फिर कार्तिक की देवोत्थान-एकादशी को उठते हैं। इस विश्वास को अनुमान गर्भित अलंकार के आधार पर कवि ने कितना कलात्मक कर दिया है। साथ ही सावन के 'उनए नए जलद' के लिए 'काजर के पहार' का अप्रस्तुत विधान कितना सुन्दर बन पड़ा है, यह कहने की वस्तु नहीं।

चमत्कार प्रधान अलंकरण

सेनापति के ऋतुवर्णन में ऐसे चित्रों की भी कमी नहीं है जो कोरा चमत्कार प्रदर्शित करते हैं। अलंकारों की परम्परा में चमत्कार का अपना स्थान है इससे इनकार नहीं किया जा सकता किंतु अतिशयता तो खटकती ही है—देखिए न—

सीत तैं सहस-कर सहस-चरन ह्वै कै,
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौ लौं कोक कोकी कौं मिलत तौ लौं होति राति,
कोक अधबीच ही तैं आवत है फिरि कै ॥[2]

प्रकृति का गतिशील रूप शब्द-चित्रों में

सेनापति के चित्रण-कला की बहुत बड़ी सफलता उनके उन शब्द-चित्रों में दिखाई पड़ती है जो प्रकृति के गतिशील रूप को सजीव करने में पूर्ण सफल हुए हैं। यह सत्य है कि सारे वर्णन में ऐसे चित्र अधिक नहीं हैं फिर भी वे हमारी दृष्टि को सहज ही आकर्षित कर लेते हैं। कवि ने क्वार के बादलों का एक शब्द-चित्र इस प्रकार दिया है।

---

१. तीसरी तरंग, छंद ३१ २. तीसरी तरंग, छंद ५१

खंड खंड सब दिग-मंडल जलद सेत,
सेनापति मानौं सृंग फटिक पहार के।
अंवर अडंवर सौं उमड़ि घुमड़ि, छिन
छिछकैं छछारे छिति अधिक उछार के ॥
सलिल सहल मानौं सुधा के महल नभ,
तूल के पहल किधौं पवन अवार के।
पूरव कौं भाजत हैं, रजत से राजत हैं,
गग गग गाजत गगन घन क्वार के ॥[1]

कवि का यह शब्द-चित्र प्रकृति के गतिशील सौंदर्य को कितनी सफलता से उपस्थित कर सका है। 'अंवर अडंवर' से आकाश का विस्तार, 'छिन छिछकैं छछारे छिति' से रह-रह कर छोटी-छोटी फुहारों का पड़ना, 'गग गग गाजत' से मेघों का मंद गर्जन, कितनी भव्यता के साथ उपस्थित किया गया है। पाठक के सामने क्वार के महीने में छोटे-छोटे वादलों के टुकड़ों का ऊँचे-नीचे होकर जमना, वायु की गति के कारण इधर-उधर भागना, बीच-बीच में हल्की-हल्की फुहारें बिखेर देना और रह-रहकर मंद ध्वनि से गर्जन करना, यह सभी दृश्य नाच उठते हैं।

अभिव्यक्ति के साधन और प्रकृति का परम्परा-ग्रहीत रूप

काव्य में अभिव्यक्ति के साधनों का वहुत बड़ा महत्व है। जहाँ कवि अपनी अनुभूतियों को भाषा के सामान्य प्रयोगों के आधार पर व्यक्त नहीं कर पाता वहाँ उसे अप्रस्तुत उपकरणों की योजना, प्रस्तुत के रूप, धर्म और प्रभाव को सामने रखकर उसकी समता के आधार पर करनी पड़ती है। काव्य-परम्परा में प्रकृति के अनेक भव्य, मधुर एवं सौंदर्यमय उपकरणों को मानवीय-सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिए अप्रस्तुत योजना में उपस्थित होना पड़ा है। काव्य-शास्त्रीय शब्दावली में सामान्यतया उन्हें उपमान वनना पड़ा है। कालान्तर में ये उपमान परम्परा-वद्ध एवं रूढ़ि-रूपों में प्रयुक्त होने लगे। इसी के फलस्वरूप मुख के लिए, कमल-चन्द्र आदि,

१. तीसरी तरंग, छंद ३८

नेत्रों केलिए, कमल, खञ्जन आदि, दाँतों के लिए कुन्द कली तथा अधरों के लिए विम्बाफल आदि को उपस्थित किया गया है। प्रकृति के इन रूपों को अभिव्यक्ति के साधन रूप में रीतिकालीन कवियों ने भी प्राचीन परिपाटी के अनुसार ग्रहण किया है और सेनापति इसके अपवाद नहीं है।

कवि-समय और सेनापति

कवि-सम्प्रदाय में प्रकृति-सम्बन्धी अनेक ऐसे विश्वास प्रचलित हैं जो सर्वथा देशकाल के अनुकूल नहीं है, फिर भी कवि-सम्प्रदाय में उनका सम्मान रहा है और वे सर्वथा सत्य माने गए हैं। मान्य शव्दावली में इन विश्वासों को कवि-समय कहा जाता है। चकवा-चकवी का रात्रि में अलग हो जाना; चातक का स्वाति नक्षत्र के जल को ही ग्रहण करना; चकोर का अँगार चुगना, अशोक वृक्ष का सुन्दरी के चरणाघात से ही पुष्पित होना, आदि विश्वास कवि समय के अन्तर्गत आते हैं। सेनापति ने भी अनेक स्थलों पर इन प्रकृति के उपकरणों का वर्णन कवि समय के अनुसार किया है।

उपर्युक्त प्रकृति-वर्णन सम्वन्धी विशेषताओं को ध्यान में रखकर हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि सेनापति ने प्रकृति-वर्णन में परम्परा निर्वहण के साथ ही स्वतन्त्र एवं मौलिक उद्भावनायें भी की हैं। उनके निरीक्षण की सूक्ष्मता एवं विशदता, प्रकृति के काव्यगत स्वरूप ग्रहण की रीतिकालीन परम्परा से ऊपर उठकर स्वतन्त्र दृश्यों की योजना की प्रवृत्ति तथा चित्रण संवन्धी अन्य अनेक विशेषताओं को देखते हुए यह मानना ही होगा कि रीतिकाल का अन्य कोई कवि इस क्षेत्र में उनके समकक्ष नहीं रखा जा सकता। हाँ, विद्वान आलोचकों ने विहारी का नाम भी सेनापति के साथ लिया है और अनेक दृष्टियों से यह मान्यता समीचीन भी है। दोनों ही कवि रीतिकाल के उन आचार्यों में परिगणित नहीं है जिन्होंने लक्षण-ग्रंथों की रचना की है। फिर भी दोनों को ही रीति-मुक्त नहीं कहा जा सकता। इन दोनों कवियों की समता की ओर ध्यान दिलाते हुए डा० रघुवंश के यह शब्द ध्यान देने योग्य हैं "उद्दीपन विभाव में आने वाले प्रकृति के विभिन्न रूपों के अतिरिक्त इन कवियों में

विहारी और सेनापति प्रकृति-वर्णन के क्षेत्र में

कुछ स्वाभाविक चित्र हैं। इस दृष्टि से इस परम्परा में इनका महत्व अधिक है।" इस साम्य के होते हुए भी विहारी और सेनापति की कुछ व्यक्तिगत विशेषतायें भी हैं जो दोनों के वीच विभाजिका रेखा खींच देती हैं।

विहारी के चित्र संक्षिप्त हैं।

रीतिकालीन सभी कवियों में विहारी अपनी समास-शैली के लिए सदैव स्मरणीय रहेंगे। प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में भी इनकी इस शैली का चरम विकास देखा जा सकता है। छोटे से दोहे में ही सब-कुछ बाँध देने के स्तुत्य प्रयत्न के कारण कवि के प्राकृतिक चित्र भी अति संक्षिप्त हैं। उनमें सेनापति की भाँति रूप और रंग की विम्वात्मक-सत्ता अधिक स्पष्ट नहीं हो पाई है। हाँ, विहारी ने प्रभाव का विम्व अवश्य सुन्दर एवं सांकेतिक ढंग से प्रस्तुत किया है— ग्रीष्म का एक व्यापक प्रभाव-चित्र देखिए —

कहलाने एकत वसत, अहि मयूर, मृग वाघ।
जगतु तपोवन सौं कियौ, दीरघ-दाघ निदाघ॥

विहारी ने मानवीय भावों का आरोप भी किया है।

विहारी के वर्णन की दूसरी विशेषता जो उन्हें सेनापति से पृथक् विशिष्ट धरातल पर लाकर खड़ा करदेती है वह है उनका प्रकृति के उपकरणों पर मानवीय भावों का आरोप। देखिए विहारी ने दक्षिण-पवन को किस प्रकार एक श्रान्त-पथिक के रूप में कल्पित किया है।

चुवतु स्वेद मकरन्द-कन, तरु-तरु-तर विरमाइ।
आवतु दच्छिन देस ते, थक्यौ वटोही वाइ॥

प्रकृति के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण

विहारी ने सेनापति की अपेक्षा प्रकृति को अधिक सहानुभूति से देखा है इसीलिए एक तटस्थ द्रष्टा की भाँति वे उसका एक-एक व्योरा उपस्थित नहीं कर सके। और न उसके रूप-रंगों में अधिक उभार ला सके। उनका भावात्मक दृष्टिकोण कभी प्रकृति के मधुर क्रिया-कलापों में मानव-जीवन की रंगीनियाँ देखता रहा और कभी प्राचीन जीवन की सहचरण-स्मृतियों को सजीव करता रहा। देखिए, स्मृति के आधार पर अतीत के सहचरण की भावना से भरा हुआ एक चित्र कितना भव्य है—

सघनकुञ्ज-छाया सुखद, सीतल सुरभि-समीर।
मनु ह्वै जात अजौं वहै, उहि जमुना के तीर॥

समानता—इन विशिष्टताओं के अतिरिक्त दोनों कवियों में निम्नलिखित बातों का साम्य भी है।

दोनों कवियों का प्रकृति-वर्णन कहीं-कहीं इतना स्वाभाविक हुआ है कि उसे आलम्बन रूप में ग्रहण कर लेने की इच्छा होती है।

दोनों में अलंकरण और उक्ति-वैचित्र्य की प्रवृत्ति प्रधान है।

उद्दीपन विभाव के अंतर्गत प्रकृति-वर्णन करते समय दोनों कवियों ने संयोग की सुखद और वियोग की दुःखद स्थितियों में प्रकृति को सहायक माना है।

अभिव्यक्ति के प्रसाधनों में उपमान चयन करते समय दोनों कवियों ने अप्रस्तुत-विधान के लिए प्रकृति के उपकरणों को स्फुट एवं संश्लिष्ट दोनों रूपों में चित्रित किया है।

दोनों का मूल आधार प्रकृति-वर्णन को रस-परिपाक का एक अंग मानना ही है और इस रूप में दोनों ही परम्परा-मुक्त नहीं हैं।

दोनों ही कवियो ने कवि-समय-सिद्ध उक्तियों को सहज सत्य के रूप में बराबर अपनाया है।

उपर्युक्त तथ्यों को देखते हुए विद्वान आलोचक का यह कथन सर्वथा सत्य है कि **"रीति-परम्परा के स्वच्छन्द कवियों में बिहारी तथा सेनापति ही प्रमुख हैं जिनके काव्य में प्रकृति का उल्लेखनीय प्रयोग हुआ"।**

सेनापति के आध्यात्मिक विचार

सेनापति के आध्यात्मिक विचार उनके मंगलाचरणों तथा अन्य स्तुतियों में ही स्फुट रूप से पाये जाते हैं। यद्यपि उन्होंने कहीं आध्यात्मिक विवेचन नहीं किया है किन्तु इन स्तुतियों के आधार पर उनके सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण बड़ी सरलता से हो जाता है। सेनापति के अनुसार—

राम, निराकार-निराधार पूर्ण पुरुष हैं। सारे संसार में उन्हीं की ज्योति व्याप्त हो रही है। वे आनन्द-घन हैं। ब्रह्मादि उनका ध्यान नहीं पाते। अनेक ब्रह्माण्डों के वे एक मात्र नायक हैं। वे ऋद्धि-सिद्धि के दाता और मंगल-कर्ता

हैं। यह सारा दृष्टिगत-विश्व उन्हीं का रूप है। वे गुणों के धाम हैं। वे महा-माया के ईस हैं, ऐसा निगमों ने गाया है। लक्ष्मी उनकी प्रिया है। सरस्वती उनकी जिह्वा है। वे सारे संसार के कर्ता हैं।[1]

भगवान राम भक्त-वत्सल हैं। इसीलिए भक्तों का सदैव ध्यान रखते हैं। इसी कारण उन्हें धीवर का सखा, वनचरों का सनेही, गीध का वन्धु, शवरी का मेहमान, पाण्डवों का दूत, और अर्जुन का सारथी होना पड़ा था। वे अति सहिष्णु हैं इसी कारण भृगु-लात का आघात भी उन्हें सहन हो सका। उन्होंने व्याध के अपराध को क्षमा कर दिया। स्वान का समाधान कर दिया और वलि की दरवारदानी भी की। यह सभी उनको भक्तों के प्रेम के कारण करना पड़ा।[2]

उपर्युक्त विचार किसी सम्प्रदाय विशेष की मान्यताओं को लेकर नहीं चले हैं। ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर भी सेनापति का सम्वन्ध किसी विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय से नहीं जोड़ा गया है। अन्य राम-भक्तों की भाँति इन्होंने भी भगवान राम को सभी कुछ मान लिया है। उनके किसी स्वरूप विशेष के निर्धारण की प्रवृत्ति इनकी नहीं है।

विचारों में उदारता

सेनापति 'राम' के अनन्य उपासक थे किन्तु इनके विचार वड़े ही उदार थे। इन्होंने भगवान कृष्ण और शिव की भी उसी भक्ति-भाव से प्रार्थना की है। 'गंगा' के प्रति भी आपके हृदय में असीम अनुराग प्रकट होता है। पाँचवीं तरंग के कई छन्दों में वरावर आपने गंगा की अनन्त महिमा का वखान किया है। यदि इन्हें एक ओर "सेनापति निरधार पाइपोस वरदार, हौं तौ राजा रामचंद जू के दरवार कौ" कहने में गौरव प्रतीत होता है तो दूसरी ओर 'करुनालय सेवौ सदा, गोवरधन गिरवर-धरन' तथा 'वारानसी जाइ मनिकर्निका अन्हाइ, मेरौ संकर तैं राम-नाम पढ़िवे कौं मन है" इस प्रकार की हार्दिक कामनाओं के प्रकट करने में भी आत्मसुख का अनुभव होता रहा है।

---

१. देखिए,प्रथम तरंग, छन्द १ तथा पाँचवी तरंग, छन्द १

२. ,, पाँचवी तरंग, छन्द १९

सेनापति के सामान्य विश्वास बड़े ही मर्यादा-पूर्ण तथा निष्पक्ष हैं। सभी सच्चे भक्तों का सामान्य विश्वास है कि संसार के प्रवल आकर्षणों की ओर शीघ्रता से मचलने वाला 'मन' है। यदि मन की वृत्तियों का निरोध हो सके तो सांसारिक विषयों से छुटकारा मिल सकता है। भगवान संसार के नाना रूपों में नहीं हैं। वे तो हृदय-मन्दिर में ही निवास करते हैं। वेष वनाकर भक्ति का ढोंग रचना संसार को प्रवञ्चित करना है। चित्त का सच्चा भाव ही फलदायक है। चित्त शुद्ध नहीं है और भाव सच्चा नहीं है तो कुछ भी कीजिए सब व्यर्थ जायगा। देखिए सेनापति ने इन विश्वासों को कितने सुन्दर ढंग से प्रकट किया है—

सामान्य विश्वास

निगमन हेरि, समुझाइ मन फेरि राख,
मन ही कौं घेरि रूप देखि मचलत है।
सेनापति देख राम तोही में अलेख, धरि
भगत कौं भेष कत विस्व कौं छलत है।।
तोरि मरी पाउ करौ कोटिक उपाउ, सब
होत है अपाउ-भाउ चित्त कौं फलत है
हिए न भगति जातें होत सुभ गति, तन
तौरथ चलत मन तौ रथ चलत है।।[1]

आस्तिक हिन्दू भक्तों की भाँति सेनापति को भी भाग्य पर पूरा विश्वास है। इन्हें हम भाग्यवादी कह सकते हैं। पाँचवीं तरंग में कवि ने बड़े ही विश्वास और दृढ़ता के साथ भाग्य के प्रति अपनी आस्था दिखाई है—

केतौ करौ कोई, पैये करम लिख्योई, तातें
दूसरी न होई, उर सोई ठहराइयै।
चिंता अनुचित तजि, धीरज उचित सेना-
पति ह्वै सुचित राजा राम जस गाइयै।।[2]

---

१. पाँचवी तरंग, छंद ३२
२. पाँचवी तरंग, छंद ३३

अभिव्यक्ति-सौंदर्य

अनुभूति और अभिव्यक्ति में सत्ता और स्वरूप का सम्बन्ध है। स्वरूप के अभाव में सत्ता की प्रतीति नहीं हो सकती। साथ ही सत्ता के अभाव में स्वरूप की कल्पना भी नहीं की जा सकती। फिर भी सत्ता, स्वरूप नहीं है और न स्वरूप, सत्ता ही। ठीक इसी प्रकार अनुभूति की प्रतीति अभिव्यक्ति के आधार पर ही सम्भव है और अभिव्यक्ति का सौंदर्य अनुभूति की सच्चाई एवं सघनता पर निर्भर करता है।

भारतीय विचारकों नें दोनों के इस सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए भी सुविधा, सरलता, और स्पष्टता के लिए दोनों की विशिष्टताओं पर अलग-अलग विचार किया है। आचार्य शुक्ल ने भी काव्य में 'भावपक्ष' और 'कलापक्ष' दोनों का पृथक्-पृथक् मूल्यांकन भारतीय परम्परा और मान्यता को दृष्टि में रखकर ही किया है। आधुनिक पाश्चात्य समीक्षकों में क्रोचे और उसके समर्थक, भारतीय मान्यता से भिन्न अलंकार और अलंकार्य्य की भिन्नता स्वीकार नहीं करते। वे अभिव्यंजना को ही सौंदर्य मानते हैं। जो भी हो, सत्ता के विषय में कुछ कहते समय, जिस प्रकार अनिवार्यतः हमारी दृष्टि स्वरूप पर जाती है उसी प्रकार काव्य में भी विषय-तत्व के सौंदर्य का भावन करते समय हम अभिव्यक्ति के सौंदर्य से भी अभिभूत होते हैं। वस्तुतः जैसा ऊपर कहा जा चुका है 'गिरा-अर्थ जल-वीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' वाली उक्ति यहाँ भी चरितार्थ होती है।

अनुभूति को उसकी सम्पूर्ण सच्चाई, सघनता एवं मार्मिकता के साथ अभिव्यक्ति देने के लिए कवियों को महान् शब्द-साधना करनी पड़ती है। साथ ही विषय को स्पष्ट, प्रभाव पूर्ण एवं आकर्षक बनाने के लिए अप्रस्तुत विधान करना पड़ता है। प्रस्तुत उक्ति को अधिक मार्मिक बनाने के लिए उसके समानान्तर अप्रस्तुत का बिम्बात्मक एवं संश्लिष्ट चित्र सामने लाना होता है। कभी कथन को जिज्ञासा-पूर्ण एवं कौतूहल-मय बनाने के लिए उक्ति-वक्रता का आधार लेना पड़ता है। फलतः कवि की वाणी में विशिष्टता आ जाती है। भावाभिव्यक्ति अलंकृत हो उठती है। काव्य में अलंकार, गुण, शैली आदि का

स्थान एवं महत्व वस्तुतः अभिव्यक्ति-सौंदर्य के विविध प्रकारों और रूपों को दृष्टि में रखकर ही किया गया है।

रीतिकालीन हिन्दी-काव्य में अभिव्यक्ति-सौंदर्य पर अधिक ध्यान दिया गया। भाषा को अलंकृत किया गया। उक्ति में वैचित्र्य लाने का प्रयत्न हुआ। शैली को परिमार्जित किया गया तथा समस्त अभिव्यक्ति के साधनों को आकर्षक बनाया गया। यों तो यह विशेषतायें युग-जनित होने के कारण सामान्यतः सभी कवियों में पाई जाती हैं, किन्तु कुछ कवि ऐसे भी हैं जिनमें इनका सौंदर्य, विकास की चरम सीमा स्पर्श कर गया है। सेनापति का स्थान भी ऐसे ही कवियों में है। आलोचकों ने तो इनकी प्रशंसा में यहाँ तक कह डाला है कि जैसे इनमें पूरी भावुकता थी वैसे ही चमत्कार लाने की पूर्ण निपुणता भी।" आगे के पृष्ठों में हम इस कथन की सत्यता की जाँच करेंगे।

सेनापति के काव्यादर्श की चर्चा करते समय हम कह आये हैं कि इनका सबसे अधिक आग्रह चमत्कार प्रदर्शन की ओर रहा है। इसी लिए कवि ने अलंकारों को सर्वाधिक स्थान दिया है। 'कवित्त-रत्नाकर', की प्रथम तरंग में तो श्लेषालंकार का वर्णन है ही, शेष तरंगों में भी अलंकरण की प्रवृत्ति प्रधान है। अलंकार काव्य के साध्य नहीं हैं; किन्तु औचित्य पूर्ण ढंग से मनोवैज्ञानिक आधारों पर जब इनका प्रयोग किया जाता है तो निश्चय ही ये भावों के उत्कर्ष में सहायक होते हैं। इन मनोवैज्ञानिक आधारों की चर्चा करते हुए डाक्टर नगेन्द्र ने छः प्रमुख आधार बताए हैं—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार। इनका ग्रहण क्रमशः स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल के लिए होता है। कहना न होगा कि कवि का यह सारा प्रयत्न एक ही अर्थ रखता है। उनका एक ही साध्य है और वह यह है कि किसी प्रकार अपने कथन को प्रभाव पूर्ण बनाकर अपनी व्यक्तिगत भावानुभूति को समष्टिगत बना सके।

सेनापति की अलंकार योजना

सेनापति की अलंकार-योजना सुन्दर है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि सर्वत्र इन्होंने अलंकारों का प्रयोग मनोवैज्ञानिक आधार पर ही किया है।

सेनापति का सर्वप्रिय अलंकार 'श्लेष' है। 'श्लेष' का लक्ष्य चमत्कृत करना है। उक्ति को प्रभाव पूर्ण करने के लिए 'चमत्कार' का ग्रहण अमनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता परन्तु 'उक्ति' में कुछ अनुभूति भी तो हो। यदि 'उक्ति' का आधार भावों की तीव्रता, मार्मिकता एवं विशदता नहीं है तो कोरा चमत्कार उसे प्रभावपूर्ण नहीं बना सकता। सेनापति के श्लेष-प्रदर्शन में अधिकांश नहीं तो अनेक उक्तियाँ केवल चमत्कार लेकर चली हैं। कहीं वे कहते हैं 'नवयौवना स्त्री कामदेव की वाटिका के समान है'; कहीं कहते हैं 'वह श्रेष्ठ स्त्री सुवर्ण की मोहर-सदृश है'; कहीं उन्हें यह समझ पड़ता है 'कि प्यारी नायिका पिसी हुई मेंहदी के समान है' और कभी उन्हें इल्हाम होता है कि 'विधाता ने कामिनी को कामदेव की पगड़ी के समान बनाया है।' कहना न होगा कि इन सभी उक्तियों में (नायिका को कामदेव की वाटिका के रूप में देखने में तो फिर कुछ औचित्य था) किस मार्मिकता का आग्रह है, समझ में नहीं आता।

सेनापति का श्लेष-वर्णन प्रायः तीन अवसरों पर सुन्दर बन पड़ा है। (क) प्रथम तो वे अवसर जहाँ 'श्लेष' को उपमा, उत्प्रेक्षा या रूपक आदि समतामूलक अलंकारो का पोषण प्राप्त हुआ है। (ख) दूसरे, वे स्थान जहा कवि ने स्वतः स्पष्ट कर दिया है कि मैं अमुक-अमुक वस्तुओं की एकता श्लेष के आधार पर सिद्ध करने जा रहा हूँ। (ग) और तीसरे ऐसे स्थल जहाँ कवि ने विरोधी तत्त्वों को सामान्य जीवन से चुनकर श्लेष के आधार पर उनकी समता दिखाने की चेष्टा की है। नीचे हम तीनों स्थितियों का एक-एक उदाहरण प्रस्तुत करके अपने कथन की सार्थकता सिद्ध करेंगे।

सादृश्य-मूलक अलंकारों से पुष्ट श्लेष

वस्तुतः अलंकारों का सर्वप्रधान मनोवैज्ञानिक आधार समता ही है। अतः जहाँ कहीं भी कवि सादृश्य मूलक अलंकारों का प्रयोग करेगा, वहाँ मार्मिकता स्वभावतः आ ही जायगी। सेनापति का एक उदाहरण देखिए—

तुकन सहित भले फल कौं धरत सूधे
दूर कौं चलत जे हैं धीर जिय ज्यारी के।

लागत विविध पक्ष सोहत हैं गुन संग
स्रवन मिलत मूल कीरति उज्यारी के ॥
सोई सीस धुनै जाके उर मैं चुभत नीके
वेग बिधि जात मन मोहैं नर नारी के।
सेनापति कवि के कवित्त बिलसत अति
मेरे जान बान हैं अचूक चापधारी के ॥[१]

कवित्त के अन्तिम चरण में कवि ने उत्प्रेक्षा का आधार लिया है। फलतः यहाँ श्लेष-अलंकार उत्प्रेक्षा से पुष्ट हुआ है। इसके अतिरिक्त यहाँ कवित्तों और वाणों में 'तुक', 'फल', 'पक्ष', 'गुन' आदि शब्दों की भी समता है। साथ ही दोनों का लक्ष्य भी एक ही है। वाण हृदय विद्ध करता है और कवित्त भी मर्म-वेध करता है। सेनापति ने इस प्रकार के श्लेषों का वर्णन पर्याप्त संख्या में किया है।

कविद्वारा समता का स्वयं स्पष्टीकरण कहीं-कहीं कवि ने स्वयं ही उन वस्तुओं की ओर संकेत कर दिया है जिनकी समता उसने प्रदर्शित की है। ऐसे स्थान भी सुन्दर बन गए हैं—देखिए—

"तारन की जोति जाहि मिले पै विमल होति
जाके पाइ संग मैं न दीप सरसत है।
भुवन प्रकास उर जानियै करध अध
सोउ तहीं मध्य जाके जगतै रहत है ॥
कामना लहत द्विज कौसिक सरब बिधि
सज्जन भजत महातम हित रत है।
सेनापति बैन मरजाद कविताई की जू
हरि रवि अरुन तमी कौं बरनत है।"[२]

अन्त में कवि ने स्वयं ही प्रकट कर दिया है कि उपर्युक्त छन्द में विष्णु, लाल सूर्य, और रात्रि का वर्णन किया है। फलतः पाठक को अर्थ-बोध में सरलता होती है।

---

१. पहली तरंग, छंद १ २. पहली तरंग, छंद ७४

विरोधी बातों की एकता-प्रदर्शन

सेनापति ने कभी-कभी जीवन की छोटी-छोटी सामान्यतः विरोध सूचक बातों को लेकर भी श्लेष द्वारा उनकी एकता दिखाकर चमत्कार-प्रदर्शन किया है। ऐसे स्थान न केवल कवि की असाधारण काव्य-चातुरी एवं श्लेष-रचना कौशल के सूचक हैं वरन् अभिव्यक्ति के सौंदर्य-वर्द्धन में भी सहायक हुए हैं। एक उदाहरण अप्रासांगिक न होगा। दाता और सूम की एकता देखिए—

> **नाहीं नाहीं करें थोरी मांगे सब दैन कहें**
> **मंगन कौं देखि पट देत बार बार हैं।**
> **जिनकौं मिलत भली प्रापति की घटी होति**
> **सदा सब जन मन भाए निरधार हैं॥**
> **भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,**
> **कन कन जोरें दान पाठ परिवार हैं।**
> **सेनापति बचन की रचना बिचारौ जामैं**
> **दाता अरु सूम दोऊ कीने इकसार हैं॥**[1]

सभंग एवं अभंग श्लेष

श्लेषालंकार की उपर्युक्त स्थितियों के अतिरिक्त सभंग और अभंग श्लेषों का प्रयोग भी सेनापति का सुन्दर बन पड़ा है। इस श्लेष की विशेषता यह है कि प्रायः छन्द की अन्तिम पंक्ति में कवि किसी ऐसे शब्द को डाल देता है जिसे अर्थबोध का मूल आधार मान सकते हैं। कहीं-कहीं इस शब्द को भंग करके द्विपक्षी अर्थ निकाला जाता है और कहीं-कहीं बिना भंग किए ही अर्थबोध हो जाता है। प्रथम स्थिति में 'सभंग-श्लेष' और द्वितीय में 'अभंग-श्लेष' माना जाता है। सेनापति ने दोनों प्रकार के श्लेषों का प्रदर्शन किया है। अपने अभंग-श्लेषों में श्लिष्टता का आधार उन्होंने भाषा के प्रचलित शब्दों से ही लिया है। यह उनकी बड़ी विशेषता है। सेनापति के सभंग-श्लेष भी थोड़ा सा भंग या परिवर्तन कर देने पर अर्थबोध करा देते हैं। सभंग-श्लेष का एक सुन्दर उदाहरण देखिए।

---

१. पहली तरंग, छंद ४०

अधर कौं रस गहैं कंठ लपटाई रहैं
सेनापति रूप सुधाकर तैं सरस हैं।
जे बहुत धन के हरन हरे मन के हैं,
हीतल में राखे सुख सीतल परस हैं॥
आवत जिनके अति गजराज गति पावै
मंगल है सोभा गुरु सुंदर दरस हैं।
और है न रस ऐसौ सुनि सखि साँची कहौं
मोतिन के देखिवे कौं जैसौ कछु रस है॥[1]

इस छन्द में नायिका अपनी अंतरंग सखी से कहना चाहती है कि मुझे प्रियतम कृष्ण के दर्शन से सर्वाधिक आनन्द प्राप्त होता है। गुरुजनों की लज्जा के कारण प्रकाश रूप में वह ऐसा नहीं कहती वरन् मोतियों की प्रशंसा करती हुई अपना मन्तव्य श्लेष के आधार पर स्पष्ट करती है। यह श्लिष्टार्थ 'मोतिन के' पद को भंग कर देने (मो+तिनके=कृष्ण) से ही प्रकट होता है। अतः यहां सभंग-श्लेष का सुन्दर प्रदर्शन हुआ है।

श्लेष-वर्णन में दोष

सेनापति के श्लेष-वर्णन में कुछ ऐसे कवित्त भी आए हैं जहाँ श्लेष-अलंकार न होकर 'सभंग-पद-यमक' का प्रयोग हो गया है या श्लेष के नाम पर यमक दो-एक पंक्तियों में चला है और अंत में प्रतीप अलंकार प्रधान हो गया है। किन्तु ऐसे कवित्त दो ही तीन हैं। इतनी बड़ी रचना में दो एक छन्दों का सदोष होना क्षम्य है। केवल प्रथम तरंग में ६६वें और ७६वें छन्द ही ऐसे हैं, जहाँ सरलता से यह दोष वर्णन हो सकता है। हाँ, विभिन्न अलंकारों की कमी नहीं है। श्लेष के साथ कहीं, उपमा, कहीं उत्प्रेक्षा, कहीं रूपक, कहीं प्रतीप आदि अलंकारों का मिश्रण पर्याप्त संख्या में हुआ है। कहीं-कहीं तो इस मिश्रण के कारण ही सारा छन्द अत्यधिक मार्मिक हो गया है। इस तथ्य की ओर हम आरम्भ में ही संकेत कर आए हैं। यहाँ हम एक अन्य तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे। ऐसे स्थल जहाँ

---

१. पहली तरंग, छंद ६२

अन्य अलंकारों के कारण चमत्कार बढ़ जाता है और 'श्लेष' का अधिक महत्व नहीं प्रतीत होता, मम्मट आदि आचार्यों की दृष्टि में 'श्लेष' के अंग तथा अन्य अलंकारों के अंगी बन जाने से, औचित्य पूर्ण नहीं कहे जा सकते। किन्तु उद्भट आदि आचार्य ऐसी परिस्थिति में भी श्लेष की ही प्रधानता स्वीकार करते हुए कोई अनौचित्य नहीं देखते।

अन्य अलंकार और उनका चित्रण

श्लेष के अतिरिक्त सेनापति ने अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक, रूपक, मुद्रा, उदाहरण, प्रतीप, संदेह, विशेषोक्ति, परिकर, देहरी-दीपक, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति और संदेह आदि अलंकारों का चित्रण भी किया है। 'रामरसायन-वर्णन' के अन्त में कुछ चित्रालंकारों का प्रदर्शन भी हुआ है। वैसे तो इन अलंकारों के प्रयोग में स्थल एवं वर्णन शैली का कोई निश्चित आधार नहीं प्रतीत होता; अनुप्रास तो सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है; 'श्लेष' मानो अवसर की ताक में रहता है जहाँ मौका मिला हाजिर; फिर भी प्रायः ऋतु-वर्णन में 'उत्प्रेक्षा', नखशिख-वर्णन में 'प्रतीप', गंगा-माहात्म्य-वर्णन में 'अतिशयोक्ति' तथा राम-रावण-युद्ध-वर्णन में 'सन्देह' का बाहुल्य स्पष्ट है। इन सभी अलंकारों का उदाहरण यहाँ व्यर्थ ही विषय-विस्तार मात्र होगा। अतः हम उन्हीं अलंकारों को उदाहृत करेंगे जिन्होंने भावों की अभिव्यक्ति में सौंदर्य-वर्द्धन किया है या जिनका प्रयोग भावों की मार्मिकता में बाधक हुआ है।

अलंकारों के द्वारा भावोत्कर्ष

कहा जा चुका है कि मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रयुक्त अलंकार सदैव भाव एवं कला में सामञ्जस्य लाकर अभिव्यक्ति के सौंदर्य-वर्द्धन में सहायक होते हैं। अलंकारों में सर्वाधिक मनोवैज्ञानिकता सादृश्य-मूलक अलंकारों की ही सिद्ध की जा सकती है। क्योंकि प्रस्तुत वस्तु के वर्णन को मार्मिक एवं प्रभाव पूर्ण बनाने के लिए जब हम अप्रस्तुत-विधान करते हैं तो 'अप्रस्तुत' के ग्रहण में सबसे पहले हमारी दृष्टि रूप, धर्म, या प्रभाव की समता पर ही जाती है। इसीलिए उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों

में अर्थगत-सौंदर्य के चरम विकास एवं उत्कर्ष तक पहुँचाने की अद्भुत क्षमता होती है।

सेनापति ने भी जहाँ-कहीं इन अलंकारों का प्रयोग किया है वहाँ भाव एवं कला का समन्वित सौंदर्य बड़ा ही आकर्षक हो उठा है।

उपमा का एक उदाहरण देखिए—

कुंद से दसन घन, कुंदन बरन तन
कुंद सी उतारि धरी क्यौं बनै बिछुरि कै।
सोभा सुख-कंद, देख्यौ चाहिये बदन-चंद,
प्यारी जब मंद मुसकाति नैंक मुरि कै॥
सेनापति कमल से फूलि रहैं अंचल मैं,
रहैं दृग चंचल चुराए हू न दुरि कै।
पलकैं न लागैं, देखि ललकैं तरुन मन,
झलकैं कपोल, रहीं अलकैं बिथुरि कै॥[1]

आन्तरिक सौंदर्य की सुन्दर अभिव्यक्ति के लिए किए गए अलंकारों के प्रयोग में सेनापति को सर्वाधिक सफलता 'उत्प्रेक्षा' अलंकार के चित्रण में हुई है। कवि ने प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण प्रायः 'वस्तूत्प्रेक्षा' का आधार लेकर किया है किन्तु वस्तुओं के सामूहिक उत्कर्ष एवं प्रभाव की व्यंजना करते समय वह फलोत्प्रेक्षा तथा हेतूत्प्रेक्षा का प्रयोग भी करता है।

वस्तूत्प्रेक्षा का एक उदाहरण इस प्रकार है—

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति, सेना-
पति है सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तोर मानौं मोती अनगन हैं॥
उदित बिमल चंद, चाँदनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन हैं।
तिमिर हरन भयो, सेत बरन सब,
मानहु जगत छीर-सागर मगन हैं॥[2]

---

१. दूसरी तरंग, छंद १० २. तीसरी तरंग, छंद ४०

वसंत-ऋतु में (माधव महीना) लाल-लाल टेसू फूल रहे हैं। फूलों की घुंडियाँ काली हैं और गुच्छे लाल। इन पुष्प-गुच्छों पर मधु लोभी भँवरे भी आकर बैठ गए हैं। इस प्रकार कालिमा और रक्तिमा का यह स्थानैक्य ऐसा लगता है मानो विरहियों को विदग्ध करने के लिए कामदेव ने कोयला सुलगा दिया है जो अभी अधजले ही हैं।

लाल लाल केसू फूलि रहे हैं विसाल, संग
स्याम रंग भेंटि मानौं मसि में मिलाए हैं।
तहाँ मधु-काज आइ बैठे मधुकर-पुंज,
मलय पवन उपवन-वन धाए हैं॥
सेनापति माधव महीना में पलास तरु,
देखि देखि भाउ कविता के मन आए हैं!
आधे अन-सुलगि, सुलगि रहे आधे, मानौं
विरही दहन काम क्वैला परचाए हैं॥[1]

फलोत्प्रेक्षा का इतना सुन्दर उदाहरण ढूँढ़ने पर भी कठिनता से मिलेगा। 'वर्षा-ऋतु' के उत्कर्ष एवं प्रभाव-वर्णन में कवि द्वारा प्रयुक्त हेतूत्प्रेक्षा भी दर्शनीय है—

चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि
मेरे जान याही तें रहत हरि सोइ कै

सीता के सौंदर्य की चर्चा करते समय एक स्थल पर चन्द्रमा की कलाओं के घटने-बढ़ने के हेतु की कल्पना भी कवि ने बड़ी सुन्दर की है—

"बार बार जाकी बराबरि कौं बिधाता अब,
रचि पचि बिधु कौं बनावत सुधारि कै।
पून्यौं कौं बनाइ जब जानत न वैसौ भयौ,
कुहू के कपट तब डारत बिगारि कै॥"[2]

---

१. तीसरी तरंग, छंद ४; इसी छंद का भाव-चित्र आवरण-पृष्ठ पर अंकित किया गया है। २. चौथी तरंग, छंद २४

जानकी के मुखारविन्द का सौंदर्य अप्रतिम है। विधाता उसकी समता के लिए चन्द्रमा को अति सुन्दर रूप देना चाहता है। वह बार-बार यथा शक्ति प्रयत्न करके पूर्णिमा को उसे पूर्ण कर देता है किन्तु जब अपनी पूर्णता प्राप्त करने पर भी चन्द्रमा, समता नहीं कर पाता तो खीझ में आकर विधाता कुहू के बहाने मानो चन्द्रमा को बिगाड़ देता है।

ऊपर हमने सेनापति के अलंकार-नियोजन की सफलता देखी है। इन सभी अलंकारों में काव्य, सौंदर्य-हीन नहीं हुआ है, वरन् इनके योग से भाव-

भाव-सौंदर्य को हीन करने वाले अलंकार

सौंदर्य में उत्कर्ष ही हुआ है। अब हम कुछ ऐसे अलंकारों की परीक्षा करेंगे जो प्रायः काव्य के सौंदर्य को नष्ट कर देते हैं। चमत्कार-मूलक अलंकारों तथा अतिशय-मूलक अलंकारों की स्थिति इसी प्रकार की है। इनके प्रयोग में बड़ी ही सतर्कता अपेक्षित है। श्लेष, यमक, मुद्रा और चित्रादि अलंकार कोरे चमत्कार का आधार लेकर चित्रित किए जाते हैं। इनमें भी चित्रालंकार को तो आचार्यों ने प्रायः काव्य ही नहीं माना है। सेनापति ने इन सभी अलंकारों का प्रयोग किया है। उनका श्लेष-वर्णन तो हम देख चुके हैं। हमने उनकी सफलताओं और त्रुटियों पर भी विचार किया है। चित्रालंकारों का प्रयोग कवि ने 'राम-रसायन' वर्णन के अंत में किया है। 'यमक' और मुद्रा' का प्रयोग अधिक नहीं हुआ है। यदि इन चमत्कार-मूलक अलंकारों के प्रयोग में भावोत्कर्ष न हो तो क्षम्य है क्योंकि इन अलंकारों का तो मूल ही चमत्कार है। किन्तु अतिशय-मूलक अलंकारों में यह आवश्यक नहीं कि वे सर्वत्र भाव-सौंदर्य को हीन ही करें। सेनापति के काव्य में अनेक स्थलों पर 'अतिशयोक्ति' वर्णन में कोरा चमत्कार प्रदर्शित हुआ है और भावों को निर्मम हत्या भी। दो एक उदाहरण अप्रासंगिक न होंगे।

गंगा-महात्म्य-वर्णन में अक्रमातिशयोक्ति का चमत्कार ध्यान देने योग्य है—

> कोई एक गाहक अजाचक ही आयो ताके,
> लागे सुर दैन, सेनापति सुख-दाइकै।

तौही कहो आप, सुर न दीजै प्रवीन, हौं अ-
लापि हौं अकेलौ, मित्तसुनौ चित्त चाइकै ॥
धोखे 'सुरनदी जै' के कहत-सुनत, भए
तीन्यौ तीनि देव, तीनि लोकन के नाइकै।
गाइन गरुड़-केतु भयौ द्वै सखाऊ भए
धाता महादेव, बैठे देव-लोक जाइ कै ॥[1]

एक संगीतज्ञ महोदय संगीत का अभ्यास कर रहे थे। उनके दो सखा सुर में सुर मिला रहे थे। गायक महोदय ने सखाओं को रोकते हुए कहा कि 'सुर न दीजै' अर्थात् 'सुर न भरो' मैं अकेला ही गायन करूँगा। 'सुर न दीजै' कथन में स्वभावतः 'सुर नदी जै' अर्थात् सुर नदी (गंगा) की जय हो, यह ध्वनित हो गया। फिर क्या था ? गायक और उनके दोनों मित्र सुरनदी की महिमा के प्रभाव से क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा और महादेव हो गए। कहना न होगा कि यहाँ चमत्कार के अतिरिक्त किसी प्रकार का भाव-सौंदर्य नहीं है।

इसी प्रकार शिशिर-ऋतु में दिन के छोटे होने पर सेनापति की निम्नलिखित उक्ति भी कोरी कला बाजी प्रतीत होती है—

कलप सी राति, सो तौ सोए त सिराति क्यौंहू,
सोइ सोइ जागे पै न प्रात पेखियत है।
सेनापति मेरे जान दिन हूँ तें रात भई,
दिन मेरे जान सपने मैं देखियत है ॥[2]

'रात बड़ी होरही है और दिन छोटा' यह कहने के लिए यह कहना कि दिन होता ही नहीं, उसका अस्तित्व तो स्वप्न में ही देखा जाता है, 'अतिशयता' का भी गला घोंटना है। गनीमत यह है कि इस प्रकार की कलाबाजी सेनापति के काव्य में अपेक्षाकृत कम है।

उपर्युक्त समस्त विवेचन के आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

---

१. पाँचवी तरंग, छंद ६३ २. तीसरी तरंग, छंद ५२

१—सेनापति मूलतः अलंकारिक मनोवृत्ति के कवि हैं।

२—सेनापति को चमत्कार-मूलक-अलंकार प्रिय हैं इसीलिए उन्होंने 'श्लेष' का इतना विस्तृत वर्णन किया है।

३—अलंकारिक प्रवृत्ति होने पर भी कवि प्रायः अलंकारों द्वारा भावोत्कर्ष दिखाने में सफल हुआ है। जहाँ-कहीं सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग हुआ है, वहाँ भाव-सौंदर्य एवं कला-सौंदर्य का सुन्दर समन्वय हो सका है।

४—सादृश्यमूलक अलंकारों के प्रयोग में कवि को सर्वाधिक सफलता 'उत्प्रेक्षा' अलंकार के चित्रण में मिली है।

५—श्लेष-वर्णन में भी जहाँ सादृश्यमूलक अलंकार पोषक रूप में आ सके हैं, भाव-सौंदर्य-वर्द्धन हुआ है। जहाँ ऐसा नहीं हुआ है वहाँ कोरा चमत्कार सामने आता है।

६—'अतिशयोक्तियों का प्रयोग करते समय कवि भाव-सौंदर्य भूल गया है। ऐसी स्थिति में कोरी कलाबाजी रह गई है।

७—सेनापति ने चित्रालंकारों का भी वर्णन किया है जो काव्य की दृष्टि से स्वयं संस्कृत के आचार्यों द्वारा ही सर्वथा हीन माने गए हैं। अतएव, आलोचकों का यह कथन कि जैसी इनमें भावुकता थी वैसी ही चमत्कार लाने की पूर्ण निपुणता भी, सापेक्षिक दृष्टि से सत्य माना जा सकता है।

अभिव्यक्ति के साधन

अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को सौंदर्य-समन्वित करने में सबसे अधिक योग, मनोवैज्ञानिक आधारों पर स्थित, अलंकारों का होता है। कदाचित् इसीलिए 'सौंदर्यमलंकारः' भी कहा गया है। हमने 'अभिव्यक्ति-सौंदर्य' के अन्तर्गत इसीलिए केवल अलंकारों पर ही विचार किया है। अलंकारों के अतिरिक्त अभिव्यंजना को सम्पन्न, पूर्ण एवं प्रभावशाली बनाने के लिए अन्य साधनों को भी ग्रहण करना पड़ता है। इनमें भाषा, शैली और छन्द प्रमुख हैं। अगले पृष्ठों में हम सेनापति की भाषा, शैली एवं छन्द-योजना की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

रीतिकाल में ब्रजभाषा सामान्य काव्य-भाषा के रूप में स्वीकृत हो चुकी थी। अतः जिस प्रकार रीतिकालीन कवि, कवि-पन्थ पालन के लिए रीति-ग्रंथों का प्रणयन करते थे उसी प्रकार काव्य-रचना में सौंदर्य लाने के लिए और परम्परा निर्वहण के लिए ब्रजभाषा का ही प्रयोग करते थे। सेनापति की काव्य-भाषा भी ब्रजभाषा ही है। समस्त 'कवित्त-रत्नाकर' की भाषा पर ध्यान देने से उसमें भाषा के तीन प्रमुख रूप दृष्टिगत होते हैं।

सेनापति की भाषा

कुछ तो ऐसे स्थल हैं जहाँ वह संस्कृत गर्भित हो गई है। स्तोत्र-शैली सी प्रतीत होने वाली कुछ स्तुतियों में इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग दृष्टिगत होता है। दूसरे, ऐसे स्थल भी हैं जहाँ अपभ्रंश-शैली का अनुकरण करते हुए कवि ने द्वित्व-प्रधान शब्दों का अधिक प्रयोग किया है। प्रायः युद्धस्थलों के ओजपूर्ण आयोजनों को चित्रित करते समय कवि ने ऐसी ही भाषा का प्रयोग किया है। शेष सभी स्थानों की भाषा अलंकृत ब्रज है। इन तीनों प्रकार के भाषा-रूपों का एक-एक उदाहरण अप्रासंगिक न होगा।

भाषा के विविध रूप

संस्कृत-प्रधान भाषा

विश्व-मंगल करने वाले राम की स्तुति में कवि संस्कृत की स्तोत्र-शैली के बहुत निकट पहुँच गया है। देखिए—

"भूषित रघुबर वंस, भक्त-वत्सल, भव खंडन।
मुनि-जन-मानस-हंस, विहित सीता-मुख-मंडन॥
त्रिभुवन पालन धीर, वीर रावन-मद-गंजन।
उदित विभीषन भाग, धेय निज परिजन रञ्जन॥
सुरपति, नरपति, भुजगपति, सेनापति वंदित चरन।
राजाधिराज जय जय सदा, राम विश्व-मंगल-करन॥"[1]

यहाँ कवि ने न केवल संस्कृत-गर्भित शब्दावली का प्रयोग किया है वरन् संस्कृत की समस्त-पदावली के आधार पर ही वर्ण-विन्यास भी किया है। समस्त 'कवित्त-

---

१. चौथी तरंग, छंद ३

१—सेनापति मूलतः अलंकारिक मनोवृत्ति के कवि हैं।

२—सेनापति को चमत्कार-मूलक-अलंकार प्रिय हैं इसीलिए उन्होंने 'श्लेष' का इतना विस्तृत वर्णन किया है।

३—अलंकारिक प्रवृत्ति होने पर भी कवि प्रायः अलंकारों द्वारा भावोत्कर्ष दिखाने में सफल हुआ हैं। जहाँ-कहीं सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग हुआ है, वहाँ भाव-सौंदर्य एवं कला-सौंदर्य का सुन्दर समन्वय हो सका है।

४—सादृश्यमूलक अलंकारों के प्रयोग में कवि को सर्वाधिक सफलता 'उत्प्रेक्षा' अलंकार के चित्रण में मिली है।

५—श्लेष-वर्णन में भी जहाँ सादृश्यमूलक अलंकार पोषक रूप में आ सके हैं, भाव-सौंदर्य-वर्द्धन हुआ है। जहाँ ऐसा नहीं हुआ है वहाँ कोरा चमत्कार सामने आता है।

६—'अतिशयोक्तियों का प्रयोग करते समय कवि भाव-सौंदर्य भूल गया है। ऐसी स्थिति में कोरी कलाबाजी रह गई है।

७—सेनापति ने चित्रालंकारों का भी वर्णन किया है जो काव्य की दृष्टि से स्वयं संस्कृत के आचार्यों द्वारा ही सर्वथा हीन माने गए हैं। अतएव, आलोचकों का यह कथन कि जैसी इनमें भावुकता थी वैसी ही चमत्कार लाने की पूर्ण निपुणता भी, सापेक्षिक दृष्टि से सत्य माना जा सकता है।

अभिव्यक्ति के साधन

अनुभूतियों की अभिव्यक्ति को सौंदर्य-समन्वित करने में सबसे अधिक योग, मनोवैज्ञानिक आधारों पर स्थित, अलंकारों का होता है। कदाचित् इसीलिए 'सौंदर्यमलंकारः' भी कहा गया है। हमने 'अभिव्यक्ति-सौंदर्य' के अन्तर्गत इसीलिए केवल अलंकारों पर ही विचार किया है। अलंकारों के अतिरिक्त अभिव्यक्ति को सम्भव, पूर्ण एवं प्रभावशाली बनाने के लिए अन्य साधनों को भी ग्रहण करना पड़ता है। इनमें भाषा, शैली और छन्द प्रमुख हैं। अगले पृष्ठों में हम सेनापति की भाषा, शैली एवं छन्द-योजना की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

रीतिकाल में ब्रजभाषा सामान्य काव्य-भाषा के रूप में स्वीकृत हो चुकी थी। अतः जिस प्रकार रीतिकालीन कवि, कवि-पन्थ पालन के लिए रीति-ग्रंथों का प्रणयन करते थे उसी प्रकार काव्य-रचना में सौंदर्य लाने के लिए और परम्परा निर्वहण के लिए ब्रजभाषा का ही प्रयोग करते थे। सेनापति की काव्य-भाषा भी ब्रजभाषा ही है। समस्त 'कवित्त-रत्नाकर' की भाषा पर ध्यान देने से उसमें भाषा के तीन प्रमुख रूप दृष्टिगत होते हैं।

सेनापति की भाषा

कुछ तो ऐसे स्थल हैं जहाँ वह संस्कृत गर्भित हो गई है। स्तोत्र-शैली सी प्रतीत होने वाली कुछ स्तुतियों में इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग दृष्टिगत होता है। दूसरे, ऐसे स्थल भी हैं जहाँ अपभ्रंश-शैली का अनुकरण करते हुए कवि ने द्वित्व-प्रधान शब्दों का अधिक प्रयोग किया है। प्रायः युद्धस्थलों के ओजपूर्ण आयोजनों को चित्रित करते समय कवि ने ऐसी ही भाषा का प्रयोग किया है। शेष सभी स्थानों की भाषा अलंकृत ब्रज है। इन तीनों प्रकार के भाषा-रूपों का एक-एक उदाहरण अप्रासंगिक न होगा।

भाषा के विविध रूप

संस्कृत-प्रधान भाषा

विश्व-मंगल करने वाले राम की स्तुति में कवि संस्कृत की स्तोत्र-शैली के वहुत निकट पहुँच गया है। देखिए—

"भूषित रघुवर वंस, भक्त-वत्सल, भव खंडन।
मुनि-जन-मानस-हंस, विहित सीता-मुख-मंडन॥
त्रिभुवन पालन धीर, वीर रावन-मद-गंजन।
उदित विभीषन भाग, धेय निज परिजन रञ्जन॥
सुरपति, नरपति, भुजगपति, सेनापति वंदित चरन।
राजाधिराज जय जय सदा, राम विश्व-मंगल-करन॥"[१]

यहाँ कवि ने न केवल संस्कृत-गर्भित शब्दावली का प्रयोग किया है वरन् संस्कृत की समस्त-पदावली के आधार पर ही वर्ण-विन्यास भी किया है। समस्त 'कवित्त-

१. चौथी तरंग, छंद ३

ाषा का यह रूप एकाध स्थल पर ही मिलता है। अतः यह निर्विवाद व की भाषा का स्वाभाविक रूप नहीं है।

वीर-काव्यों की द्वित्व-प्रधान भाषा

युद्ध के उत्साह, आयोजन तथा भीषण स्वरूप को मूर्त करते समय सेनापति की भाषा के स्वरूप में आमूल परिवर्तन हो जाता है। वह अपभ्रंश-युगीन भाषा के निकट सरलता से रखी जा सकती है। अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है जो रीतिकाल की अलंकृत मधुर एवं परिमार्जित भाषा के सम्मुख सर्वथा अपरिचित प्रतीत होते हैं। एक उदाहरण देखिए—

अक्खि पिक्खि नहिं सकइ, सेस नक्खिन लग्गिय तल।
सेनापति जय सद्द, सिद्ध उच्चरत वुद्धि वल॥
उद्दंड चंड भुजदंड भरि, धनुष राम करषत प्रवल।
टुट्टिय पिनाक निर्घात सुनि, लुट्टिय दिगंत दिग्गज बिकल॥[1]

भाषा का प्रकृत रूप

इन विशिष्ट स्थानों को छोड़कर अन्यत्र सेनापति की भाषा का वह प्रकृत रूप मिलता है जिसे हम रीतिकालीन काव्य-भाषा का वास्तविक रूप कह सकते हैं। अलंकरण की प्रधानता, वर्ण-विन्यास में कौशल-प्रदर्शन, प्रवाह, ओज, माधुर्य आदि से पूर्ण करने की प्रवृत्ति, तथा यथा-सम्भव संस्कृत की तत्सम शब्दावली से दूर रहकर हिन्दी के निजी रूप को व्यक्त करने का प्रयत्न, सेनापति की भाषा के स्वाभाविक स्वरूप की कतिपय विशेषतायें हैं। 'कवित्त-रत्नाकर' में उपर्युक्त स्थलों को छोड़कर सर्वत्र ऐसी ही भाषा पाई जाती है अतः इसका उदाहरण देना आवश्यक नहीं प्रतीत होता।

अन्तर्संघटन

सेनापति की भाषा का स्वरूप निर्माण भारतीय आधारों पर ही हुआ है। शब्दों के ग्रहण की दृष्टि से उसमें प्रायः उन्हीं शब्दों को रखा गया है जो प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के साथ लोक-जीवन में प्रयुक्त होते-होते घिस-घिस कर हिन्दी के अपने हो गए हैं। यह अवश्य है कि प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा से प्राप्त ये शब्द पुनः परि-

१. चौथी तरंग, छंद १६

मार्जित होकर शिष्ट और साहित्यिक रूप में सामने आए हैं। उनके लोक-जीवन की सरसता, उल्लास, एवं स्वच्छन्द चेतना के अभिव्यंजन की शक्ति नहीं रह गई है, किन्तु शिष्ट-समाज के कृत्रिम जीवन की झाँकी प्रस्तुत करने की उनमें अद्भुत क्षमता है।

विदेशी मेल सेनापति की भाषा में विदेशी मेल भी हुआ है किन्तु वह उचित मात्रा में होने के कारण नगण्य है। साथ ही कवि ने विदेशी शब्दों की ध्वनियों का भारतीयकरण या हिन्दीकरण भी कर लिया है। उदाहरण के लिए फारसी के **पापोश, रोशन, आशना, गोशा, ज़्यारी, रूख़** आदि शब्दों को कवि ने हिन्दी की ध्वनि-सम्बन्धी प्रवृत्तियों के आधार पर क्रमशः **पाइपोस, रौसन, आसना, गोसे, ज्यारी, रूख** बना डाला है। विदेशी भाषाओं के शब्दों को सभी जीवित भाषायें अपनी विशेषताओं की रक्षा करते हुए ही पचाती हैं। हिन्दी-भाषा ने भी इसी सामान्य भाषा-वैज्ञानिक नियम के आधार पर इन शब्दों को अपनाया है। अतः इसे हम कवि की वैयक्तिक विशेषता के रूप में न ग्रहण कर के भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में भी ग्रहण कर सकते हैं।

भाषा के गुण—सेनापति की भाषा में ओज, प्रसाद, और माधुर्य गुणों की भी कमी नहीं। 'रामायण-वर्णन' में तो सर्वत्र भाषा का ओजस्वी रूप सामने आया है। एक उदाहरण देखिए, हनुमान की गर्वोक्ति में कितना ओज है—

कीजियै रजाइस कौं हरि-पुर जाइ सकौं,
पौनौं बीर जाइ सकौं जा तन खरो सौ है।
काहू कौं न डर, सेनापति हौं निडर सदा,
जाके सिर ऊपर जु साँईं राम तोसौ है॥
कुलिस कठोरन कौं, देखौं नख कोरन कौं
लाए नैंक पोरन कौं, मेरु चून कैसौ है।
चूर करौं सोरन कौं, कोटि कोट तोरन कौं,
लंका गढ़ फोरन कौं, को रन कौं मोसौ है॥[1]

१. चौथी तरंग, छंद ५२

वस्तुतः काव्य-भाषा का ओज-गुण शब्दों के ऊपर निर्भर करता है और 'प्रसाद' गुण का आधार अर्थ है। अतः भाषा को ओजमय करने के लिए ओजस्वी शब्दों का चयन करना पड़ता है। साथ ही भाषा को प्रसादगुण-युक्त करने के लिए अर्थ की सरलता पर ध्यान देना होता है। माधुर्य-गुण में अर्थ और 'शब्द' दोनों प्रभाव डालते हैं। अतः भाषा को माधुर्य-गुण-युक्त करने में कवि को अत्याधिक सतर्कता रखनी पड़ती है। हम ऊपर कह आए हैं कि सेनापति की काव्य-भाषा में माधुर्य-गुण की मात्रा भी कम नहीं है। इस कथन की सत्यता निम्नलिखित छन्दों की भाषा पूर्णतः सिद्ध कर देती है। देखिए—

आई रितु-पाउस कृपाउस न कीनी कंत,
छाइ रह्यो अंत, उर बिरह दहत है।
गरजत घन, तरजत है मदन, लर-
जत तन-मन नीर नैननि बहति है॥
अंग अंग भंग, बोलै चातक विहंग, प्रान
सेनापति स्याम संग रंगहि चहत है।
धुनि सुनि कोकिल की विरहिनि कोकिलकी,
केका के सुने तैं प्रान एकाके रहत है॥[1]

× × ×

दामिनी दमक, सुरचाप की चमक, स्याम
घटा की झमक अति घोर घनघोर तैं।
कोकिला, कलापी, कल कूजत हैं जित-तित,
सीकर ते सीतल, समीर की झकोर तैं॥
सेनापति आवन कह्यौ है मनभावन, सु
लाग्यौ तरसावन विरह-जुर जोर तैं।
आयौ सखी सावन, मदन सरसावन, ल-
ग्यौ है बरसावन सलिल चहूँ ओर तैं॥[2]

१. तीसरी तरंग, छंद २५ २. तीसरी तरंग, छंद २६

सेनापति की भाषा में 'प्रसाद-गुण' की चर्चा करते हुए उमाशंकरजी शुक्ल ने कहा है "प्रसाद-गुण श्लिष्ट रचनाओं को छोड़कर प्रायः सर्वत्र ही प्राप्त होता है।" शुक्लजी का यह कथन सर्वथा स्वीकार कर लेने में हमें संकोच हो रहा है। हम कई बार कह आए हैं कि सेनापति की प्रवृत्ति ही अलंकारिक है। जहाँ उनकी रचना श्लिष्ट नहीं है वहाँ अन्य अलंकारों से लदी हुई है। कवि जहाँ भावानुभूति में तन्मय होकर इस अलंकरण की प्रवृत्ति को भूल सका है, वहीं उसकी काव्य-भाषा में प्रसाद-गुण का समावेश हो सका है। ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं। 'ऋतु-वर्णन' और 'राम-रसायन' वर्णन में भी कभी-कभी निरीक्षण की सूक्ष्मता तथा अनुभूति की सघनता के कारण कवि की अलंकारिकता पीछे रह सकी है। अतः यही दो प्रमुख स्थल हैं जहाँ भाषा में प्रसादात्मकता आस की है। एक उदाहरण अप्रासंगिक न होगा।

पाल्यौ प्रहलाद, गज ग्राह तौं उवार्‌यौ जिन,
जाकौ नाभि कमल, विधाता हू कौं भौन है।
ध्यावैं सनकादि, जाहि गावैं बेद-बंदी, सदा
सेवा कै रिझावैं सेस, रबि ससि पौन है॥
ऐसे रघुबीर कौं, अधीर ह्वै सुनावौ पीर,
बंधु-भीर आगे सेनापति भलो मौन है।
सांवरे-बरन, ताही सारंग-धरन बिन,
दूजौ दुख-हरन हमारौ और कौन है॥[1]

सामान्य विशेषतायें

सेनापति की भाषा विषयक चर्चा समाप्त करते हुए हम उसकी कुछ सामान्य विशेषताओं की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहेंगे।

(क)—सेनापति ने सर्वमान्य काव्य-भाषा (व्रज) के परिमार्जित रूप का प्रयोग करते हुए भी कहीं-कहीं 'व्रजभाषा' से 'इतर' व्याकरणिक रूपों को भी स्थान दिया है। जैसे 'कालवाची क्रिया-विशेषण' तथा 'अनिश्चय-वाचक

१. पाँचवीं तरंग, छंद ३

सर्वनाम' के लिए उन्होंने क्रमशः 'पीछे' तथा 'कोई' शब्दों का प्रयोग किया है। यह प्रयोग खड़ी बोली के हैं।

(ख) सेनापति ने कहीं-कहीं स्वयं ही शब्दों का रूप बना लिया है। जैसे—'परी है विपत्ति पति लागी पतता नहीं'

केका के सुने तैं प्रान एकाके रहत हैं।

कहना न होगा कि 'पतता' और 'एकाके' शब्दों को यह रूप सेनापति ने स्वयं दिया है।

(ग) 'कवित्त-रत्नाकर' में कहीं-कहीं पूर्वी प्रयोग भी मिल जाते हैं जैसे 'कौन' के स्थान पर 'कवन' (प्रश्नवाचक सर्वनाम के रूप में) 'कौ' के स्थान पर 'कर' (संबंधकारक के चिन्ह के रूप में) इत्यादि।

(घ) सेनापति ने यत्र-तत्र मुहावरों का प्रयोग भी किया है—

'आँगुरी पकरि पहुँचा कौं पकरत हौ' (द्वितीय तरंग, छन्द ३०)

× ×

ऐसी नव बाल लाल पूरे पुन्य पाई है। (द्वितीय तरंग, छन्द २९)

× ×

एक साधु मनै बीस बिस्वा राखि लेत है। (पहली तरंग, छन्द ४५)

× ×

सेनापति यातैं कथा क्रम कौं प्रनाम करि, (चौथी तरंग, छन्द ६)

भाषा पर अधिकार—सेनापति का भाषा पर अपार अधिकार था। पूरी एक तरंग में, लगभग छानवे छन्दों में, बराबर द्वयार्थक रचना करना, चरण-चरण और पद-पद पर अनुप्रासों का अनायास आ जाना, यमक-मुद्रादि अलंकारों की इच्छानुसार योजना करना, आदि अनेक बातें कवि के भाषाधिकार की सूचना देती हैं। साथ ही प्रसंगानुकूल भाषा के स्वरूप में परिवर्तन करने की क्षमता भी इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। हम देख चुके हैं कि सेनापति की भाषा की रूप-विविधता का प्रमुख कारण प्रसंग-परिवर्तन है। उत्साहपूर्ण स्थलों पर उसमें विशेष प्रकार का ओज आ गया है। युद्ध की भीषणता की व्यंजना करते समय वह द्वित्व प्रधान हो गई है। शृंगारिक स्थलों पर उसमें

सरसता, माधुर्य एवं मन्थर गतिमयता आगई है। ऋतुवर्णन में सूक्ष्मता तथा इतिवृत्तात्मकता के दर्शन होते हैं। इस प्रकार अनेक रूपों में अपने सौंदर्य की छाप वह पाठक के ऊपर छोड़ जाती है। और यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि कवि का भाषा पर अपार अधिकार था।'

निष्कर्ष उपर्युक्त समस्त विवेचन के आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

(१) सेनापति की भाषा अपने प्रकृत रूप में साहित्यिक ब्रजभाषा है।

(२) प्रकृत ब्रज-रूप के अतिरिक्त उसके ो अन्य रूप भी पाये जाते हैं। स्तुतियों की रचना में संस्कृत-गर्भित, तथा युद्ध-स्थल की भीषणता की व्यंजना करते समय अपभ्रंश-युगीन द्वित्त्व-प्रधान रूप।

(३) सेनापति की भाषा का अन्तर्संघटन परम्परागत हिन्दी के परिमार्जित एवं साहित्यिक शब्द-रूपों से ही हुआ है। उसमें कहीं-कहीं विदेशी मेल भी है किन्तु कवि ने उसका हिन्दीकरण कर लिया है।

(४) सेनापति की भाषा में ओज, प्रसाद एवं माधुर्य-गुण विद्यमान हैं।

(५) कहीं-कहीं उसमें खड़ी बोली एवं पूर्वी के प्रयोग भी मिल जाते हैं।

(६) सेनापति ने एकाध स्थल पर शब्दों को अपनी रुचि के अनुसार परिवर्तित रूप में भी प्रयुक्त किया है।

(७) मुहावरों का प्रयोग भी कवि ने यथा स्थान किया है।

(८) कवि का भाषा पर अपार अधिकार है।

शैली—कहना न होगा कि रीतिकाल मुक्तक-शैली का युग था। रीति-ग्रंथों में प्रचलित लक्षण और उदाहरण की प्रवृत्ति तथा दरबारी वातावरण की चमत्कारवादी मनोवृत्ति ने मुक्तक-शैली के प्रचार-प्रसार में पर्याप्त योग दिया था। सेनापति स्वयं एक अलंकारिक एवं प्रदर्शन-प्रधान प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। अतः उनकी रचना भी मुक्तक-शैली में ही अपना स्वरूप स्पष्ट कर सकी। सेनापति की मुक्तक शैली के चार प्रमुख रूप सामने आते हैं।

१—चमत्कार प्रधान मुक्तक।

२—पौर्वापर सम्बन्ध रहित होने पर भी रस-निप्पत्ति में समर्थ मुक्तक।

३—स्थूल कथात्मक मुक्तक।

४—आत्मतत्व-प्रधान मुक्तक।

चमत्कार की प्रधानता मुक्तक रचना की अनिवार्य विशेषता है। कदाचित् इसीलिए अग्निपुराणकार ने इसकी परिभाषा देते समय केवल चमत्कार की विशेषता पर ही बल दिया है।[1] सेनापति के 'कवित्त-रत्नाकर' की श्लेष-रचना चमत्कार-प्रधान मुक्तकों का सुन्दर उदाहरण है। इस प्रकार की रचना में कवि का ध्यान केवल चमत्कार-प्रदर्शन पर ही केन्द्रित रहता है। छन्द-रचना की सारी स्वच्छन्दता प्रायः अन्तिम पंक्ति में निहित चमत्कार तक ही सीमित रहती है। समस्या-पूर्ति सम्बन्धी रचनाओं को भी हम इसी कोटि में रख सकते हैं।

चमत्कार-प्रधान मुक्तक

पौर्वापर सम्बन्ध न रहने पर भी स्वतन्त्र रूप से रस-निष्पत्ति की क्षमता मुक्तक-रचना की सबसे बड़ी विशेषता मानी जा सकती है। बिहारी के अनेक दोहे इसी कोटि में आते हैं। सेनापति का शृंगार-वर्णन, तथा ऋतु-वर्णन के कुछ छन्द रस-परिपाक में समर्थ हैं। प्रबन्ध शैली में लिखे गए जीवन-काव्यों में एक अखण्ड कथात्मकता होने से जीवन की मार्मिक स्थितियाँ बीच-बीच में आती रहती हैं। फलतः वहाँ कवि को रस-परिपाक के लिए विशेष आयोजन नहीं करना पड़ता। उसकी भावुकता ही इसके लिए पर्याप्त होती है। मुक्तकों में कवि को एक ही छन्द में जीवन के किसी सरस प्रसंग की उद्भावना करनी पड़ती है और रस के सभी अंगों का आयोजन भी करना होता है अतः भावुकता के अतिरिक्त उसे काव्य-निपुणता की भी आवश्यकता होती है। सेनापति के शृंगार-वर्णन के अनेक छन्द इस कसौटी पर पूरे उतरते हैं।

रस-निष्पत्ति में समर्थ मुक्तक

स्थूल कथात्मक मुक्तकों से तात्पर्य ऐसे मुक्तकों से है जिनमें कथा की अखण्ड धारा तो प्रवाहित नहीं होती किन्तु एक ही विस्तृत कथा से सम्बन्धित

---

१. मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कार क्षमः सताम्—(अग्निपुराण)

स्थूल कथात्मक मुक्तक

कुछ स्थलों का स्थूल एवं क्षीण कथा-संग चलता रहता है। तुलसी की गीतावली और कवितावली इसी कोटि की रचनायें हैं। सेनापति का 'रामायण-वर्णन' स्थूल-कथात्मक-मुक्तक का सुन्दर उदाहरण है। कवि ने राम-कथा से सम्वन्धित उत्साहपूर्ण स्थलों को लेकर ही काव्य-रचना की है। कथा की अखण्डता-पूर्णता, तथा सूक्ष्म एकसूत्रता न होने के कारण इसे हम प्रवन्ध-रचना नहीं मान सकते। साथ ही राम-कथा से सम्वन्धित सभी उत्साहपूर्ण स्थलों का समावेश हो जाने के कारण इसे पूर्वोल्लिखित मुक्तकों की कोटि में भी नहीं रख सकते। अतः सुविधा के लिए इसे स्थूल-कथात्मक-मुक्तक कहना ही औचित्य पूर्ण है।

आत्म-तत्त्व-प्रधान मुक्तक

कवि की आत्मानुभूति की सघनता जव अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो उठती है तव आत्मतत्व-प्रधान मुक्तकों की सृष्टि होती है। यह मुक्तक प्रायः गेय होते हैं। तुलसी की विनयपत्रिका, सूर के अनेक विनय गीत तथा मीरा की समस्त पदावली इसी कोटि में आती है। सेनापति का 'राम-रसायन-वर्णन' यद्यपि संगीत प्रधान नहीं है किन्तु फिर भी उसमें विनय की भावना, दैन्य आदि भावों की ऐसी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है कि उसे हमें इसी कोटि के मुक्तकों में स्थान देना पड़ता है। निश्चित है कि 'कवित्त छन्द' में रचना करने के कारण सेनापति में न तो मीरा की तन्मयता ही व्यक्त हो पाई है और न सूर का संगीत ही ध्वनित हो सका है। तुलसी जैसी अनुभूति सघनता भी उनमें नहीं है। अस्तु, इन कवियों के साथ उन्हें स्थान देने की धृष्टता एक सामान्य नियम के व्यावहारिक रूप को स्पष्ट करने के लिए की गई है।

शैली की प्रौढ़ता-अप्रौढ़ता

काव्य-शैली के अध्ययन का एक दूसरा प्रकार कवि के व्यक्तित्व के साथ-साथ शैली के क्रमिक विकास का अध्ययन भी है। प्रायः आलोचक इस आधार पर कवि की अप्रौढ़ रचनाओं से लेकर उसकी प्रौढ़तम कृतियों तक एक क्रम-स्थापन का प्रयत्न करते हैं। दुर्भाग्य या सौभाग्यवश सेनापति की केवल एक ही कृति उपलव्ध है और वह कवि की प्रौढ़तम अवस्था की रचना है। कवि की दूसरी कृति

(काव्य-कल्प-द्रुम) आज तक हिन्दी-जगत के सामने नहीं आ सकी है। अतः सेनापति की शैली का अध्ययन इस आधार पर नहीं किया जा सकता। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि 'कवित्त-रत्नाकर' सेनापति की प्रौढ़तम कृति है।

छन्द—'कवित्त', 'सवैया', 'दोहा', 'सोरठा' और 'छप्पय' रीति काल के प्रमुख छन्द हैं। सेनापति ने प्रमुखतः कवित्तों की ही रचना की है। 'कवित्त' के अतिरिक्त 'कवित्त-रत्नाकर' में आए हुए अन्य छन्द, छप्पय, कुंडलियाँ तथा दोहा हैं। सेनापति का भाषा पर अपार अधिकार था और अपनी कवित्त-रचना-शक्ति पर अखण्ड विश्वास भी। उनका यह विश्वास सकारण था। आदि से अन्त तक सेनापति के काव्य में छन्दोभंग नहीं पाया जाता। यदि कहीं उसके दर्शन होते भी हैं तो उसे प्रतिलिपिकारों का प्रमाद कहा जा सकता है।

'कवित्त-छन्द' ३१-३२ अक्षरों का छन्द है। इसमें गण अनियमित होते हैं। अक्षरों की संख्या के अतिरिक्त इसमें यति और गति के नियमों पर भी ध्यान दिया जाता है। 'कवित्त' छन्द का प्रामाणिक प्रयोग अकबर के शासन काल में मिलता है। 'कवित्त' छन्द के विकास-स्रोत की चर्चा करते हुए विद्वानों ने इसका विकास बँगला के पयार-छन्द (जिसमें १४ अक्षर होते हैं तथा आठवें और चौदहवें अक्षर पर यति होती है) से माना है।

कवित्त के तीन भेद पाये जाते हैं। **मनहर**, जो ३१ अक्षरों का होता है। **रूप घनाक्षरी**, जिसमें ३२ अक्षर और अन्त में लघु होता है तथा **देव घनाक्षरी**, जिसमें ३३ अक्षर होते हैं। 'कवित्त' में 'यति' की स्थिति १६ और १५ या १६ अक्षरों के बाद ही होती है। कभी-कभी ८-८, ८-७ (या ८) अक्षरों के बाद भी मानी जाती है। सेनापति ने प्रायः मनहर कवित्तों का ही प्रयोग किया है। इन कवित्तों की रचना में जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है छंदो भंग नहीं है किन्तु कहीं-कहीं यति और गति सम्बन्धी दोष अवश्य आ गए हैं।

गति-भंग के एक-दो उदाहरण देखिए—

और की कहा है गुमन के नेह चिकनाए (?)

मेरे प्रानप्यारे केसौ रूखे से रहत हैं॥ (पहली तरंग, छन्द ७१)

× × ×

सांरग धुनि सुनावै घन रस वरसावै

मोर मन हरषावै अति अभिराम है। (पहली तरंग, छन्द १२)

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना होगा कि कवित्त का मूल आधार लय ही माना गया है। यदि सस्वर पाठ में लय ठीक आजाती है तो यति और गति के दोषों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। 'देव' के अनेक कवित्तों में यति-गति, भंग दोष पाया जाता है। आधुनिक-काल में व्रजभाषा काव्य के मर्मज्ञ, रत्नाकरजी ने भी यति-नियम की महत्ता स्वीकार नहीं की है।[1] ऐसी स्थिति में सेनापति की कवित्त रचना निर्दोष ही मानी जानी चाहिए।

उपसंहार

सेनापति के काव्य-सौष्ठव की समीक्षा के पश्चात् प्रकृततः प्रश्न उठता है कि हिन्दी-साहित्य के रीतिकालीन कवियों में 'सेनापति' की क्या स्थिति है? हिन्दी के एक मात्र मान्य आलोचक आचार्य शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि की सराहना करते हुए भी यह स्वीकार करना होगा कि उनकी व्यक्तिगत प्रवृत्ति प्रवन्ध-काव्यकारों के कृतित्व-आकलन में अधिक प्रवृत्त हुई है। अतः मुक्तक काव्य-कारों के प्रति उनका दृष्टिकोण उदार नहीं हो सका है। फिर भी इस महान आलोचक की सूक्ष्म दृष्टि का ऐतिहासिक महत्व है, जो अभी वहुत दिनों तक सन्तुलित ,निष्पक्ष एवं प्रौढ़ मानदण्ड के लिए स्मरणीय रहेगा।

१—"आठ-आठ पै तीन जति, वहुरि सात पै एक।
अन्तमाहि नियमित गुरु कहि घनाक्षरी टेक॥"

"इस नियम के भंग होने से योग्य लोगों के कानो में भी जो कि छन्द के निमित्त श्रेष्ठतम तुला माने जाते हैं, कोई खटक नहीं होती है, इसके अतिरिक्त यह वात भी देखी गई कि उन नियमों के अनुसार होने पर भी कवित्त अशुद्ध रह सकता है।"

—घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर, भूमिका

(काव्य-कल्प-द्रुम) आज तक हिन्दी-जगत के सामने नहीं आ सकी है। अतः सेनापति की शैली का अध्ययन इस आधार पर नहीं किया जा सकता। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि 'कवित्त-रत्नाकर' सेनापति की प्रौढ़तम कृति है।

छन्द—'कवित्त', 'सवैया', 'दोहा', 'सोरठा' और 'छप्पय' रीति काल के प्रमुख छन्द हैं। सेनापति ने प्रमुखतः कवित्तों की ही रचना की है। 'कवित्त' के अतिरिक्त 'कवित्त-रत्नाकर' में आए हुए अन्य छन्द, छप्पय, कुंडलियाँ तथा दोहा हैं। सेनापति का भाषा पर अपार अधिकार था और अपनी कवित्त-रचना-शक्ति पर अखण्ड विश्वास भी। उनका यह विश्वास सकारण था। आदि से अन्त तक सेनापति के काव्य में छन्दोभंग नहीं पाया जाता। यदि कहीं उसके दर्शन होते भी हैं तो उसे प्रतिलिपिकारों का प्रमाद कहा जा सकता है।

'कवित्त-छन्द' ३१-३२ अक्षरों का छन्द है। इसमें गण अनियमित होते हैं। अक्षरों की संख्या के अतिरिक्त इसमें यति और गति के नियमों पर भी ध्यान दिया जाता है। 'कवित्त' छन्द का प्रामाणिक प्रयोग अकबर के शासन काल में मिलता है। 'कवित्त' छन्द के विकास-स्रोत की चर्चा करते हुए विद्वानों ने इसका विकास बँगला के पयार-छन्द (जिसमें १४ अक्षर होते हैं तथा आठवें और चौदहवें अक्षर पर यति होती है) से माना है।

कवित्त के तीन भेद पाये जाते हैं। **मनहर**, जो ३१ अक्षरों का होता है। **रूप घनाक्षरी**, जिसमें ३२ अक्षर और अन्त में लघु होता है तथा **देव घनाक्षरी**, जिसमें ३३ अक्षर होते हैं। 'कवित्त' में 'यति' की स्थिति १६ और १५ या १६ अक्षरों के बाद ही होती है। कभी-कभी ८-८, ८-७ (या ८) अक्षरों के बाद भी मानी जाती है। सेनापति ने प्रायः मनहर कवित्तों का ही प्रयोग किया है। इन कवित्तों की रचना में जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है छंदो भंग नहीं है किन्तु कहीं-कहीं यति और गति सम्बन्धी दोष अवश्य आ गए हैं।

गति-भंग के एक-दो उदाहरण देखिए—

और की कहा है सुमन के नेह चिकनाए (?)

मेरे प्रानप्यारे केसौं रूखे से रहत हैं।। (पहली तरंग, छन्द ७१)

× × ×

सांरग धुनि सुनावै घन रस बरसावै

मोर मन हरषावै अति अभिराम है। (पहली तरंग, छन्द १२)

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना होगा कि कवित्त का मूल आधार लय ही माना गया है। यदि सस्वर पाठ में लय ठीक आजाती है तो यति और गति के दोषों पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। 'देव' के अनेक कवित्तों में यति-गति, भंग दोष पाया जाता है। आधुनिक-काल में व्रजभाषा काव्य के मर्मज्ञ, रत्नाकरजी ने भी यति-नियम की महत्ता स्वीकार नहीं की है।[१] ऐसी स्थिति में सेनापति की कवित्त रचना निर्दोष ही मानी जानी चाहिए।

उपसंहार

सेनापति के काव्य-सौष्ठव की समीक्षा के पश्चात् प्रकृततः प्रश्न उठता है कि हिन्दी-साहित्य के रीतिकालीन कवियों में 'सेनापति' की क्या स्थिति है? हिन्दी के एक मात्र मान्य आलोचक आचार्य शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि की सराहना करते हुए भी यह स्वीकार करना होगा कि उनकी व्यक्तिगत प्रवृत्ति प्रबन्ध-काव्यकारों के कृतित्व-आकलन में अधिक प्रवृत्त हुई है। अतः मुक्तक काव्य-कारों के प्रति उनका दृष्टिकोण उदार नहीं हो सका है। फिर भी इस महान आलोचक की सूक्ष्म दृष्टि का ऐतिहासिक महत्व है, जो अभी बहुत दिनों तक सन्तुलित ,निष्पक्ष एवं प्रौढ़ मानदण्ड के लिए स्मरणीय रहेगा।

१—"आठ-आठ पै तीन जति, बहुरि सात पै एक।
अन्तमाहिं नियमित गुरु कहि घनाक्षरी टेक॥"

"इस नियम के भंग होने से योग्य लोगों के कानो में भी जो कि छन्द के निमित्त श्रेष्ठतम तुला माने जाते हैं, कोई खटक नहीं होती है, इसके अतिरिक्त यह बात भी देखी गई कि उन नियमों के अनुसार होने पर भी कवित्त अशुद्ध रह सकता है।"

—घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर, भूमिका

आचार्य शुक्ल ने सेनापति को रीतिकालीन कवियों में स्थान न देकर भक्ति-काल के 'फुटकल' कवियों में परिगणित किया है। इस परिगणना का आधार केवल यह नहीं हो सकता कि 'सेनापति' ने किसी लक्षण ग्रन्थ की रचना नहीं की। यदि ऐसा होता तो 'विहारी' को रीति-युग के प्रमुख और प्रतिनिधि कवियों में वे क्योंकर स्थान देते ? विहारी ने भी तो कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा था। विचित्र वात तो यह है कि विहारी को रीतियुग के प्रतिनिधि कवियों में स्थान देने के लिए शुक्लजी ने जो तर्क दिए हैं वे सेनापति पर भी ज्यों के त्यों लागू हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में दो ही वातें हो सकती हैं या तो सेनापति की भक्ति-भाव-मयी रचनाओं को देखकर और रीतिकाल की मूल-भाव-धारा शृंगारिकता मान कर शुक्लजी ने उन्हें फुटकल कवियों में ही रखना औचित्य पूर्ण समझा या विहारी की लोकप्रियता ने उन्हें विहारी को प्रतिनिधि कवि घोषित करने के लिए वाध्य कर दिया। जो भी हो, यह तो स्पष्ट है कि सेनापति रीति-निरूपण करने वाले कवि-आचार्यों की श्रेणी में नहीं आ सकते चाहे उनकी दृष्टि भले ही काव्य-रीति के सभी रूपों पर वरावर क्यों न लगी रही हो।

साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि रीति-मुक्त कवियों के साथ भी सेनापति की तुलना नहीं हो सकती। रीति-मुक्त कवि—(घनानन्द, वोधा, ठाकुर आदि) प्रेम-रस में आचूड़ मग्न थे। सेनापति उस प्रेम की गहराई को स्पर्श भी नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में सेनापति को रीतियुगीन कवियों के विभिन्न वर्गों के साथ रखकर देखने की अपेक्षा उनके काव्य के विभिन्न रूपों को अन्य कवियों के उसी प्रकार के काव्य-रूपों के साथ रख कर देखना ही अधिक समीचीन होगा। सेनापति के काव्य की सम्पूर्ण विशेषताओं को थोड़े में अलंकार एवं चमत्कार प्रियता, शृंगार-रस-वर्णन, ऋतु-वर्णन, तथा भक्ति-भाव के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। यों तो रीतिकाल के सभी कवि अलंकरण के पक्षपाती थे किन्तु चमत्कार की प्रवृत्ति को काव्य में प्रमुख स्थान देने वालों में विहारी अग्रणी हैं। इस दृष्टि से विहारी और सेनापति को एक साथ रखा जा सकता है। किन्तु दोनों में महान अंतर भी है। विहारी की चमत्कारिकता विशेषतः

उहात्मकता एवं उक्ति-वैचित्र्य पर आधारित हैं। सेनापति की चमत्कारिकता का आधार शब्द-वैचित्र्य माना जा सकता है। 'शृंगार-रस-वर्णन' रीतिकालीन काव्य-धारा की एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है। अतः इसका स्वरूप तो प्रायः सभी कवियों में मिल जाता है। फिर भी शृंगारिक मुक्तक-काव्यकारों में केशव, विहारी, मतिराम, देव और पद्माकर उल्लेखनीय हैं। सेनापति का शृंगार-वर्णन इन कवियों के साथ रखा जा सकता है। केशव की शृंगारिकता 'रसिक-प्रिया' में अपनी चरम उत्कर्ष की स्थिति में है। 'रसिक-प्रिया' के 'रस-पूर्ण' चित्रों के साथ रखकर देखने से सेनापति का शृंगार-वर्णन हीन सा प्रतीत होता है। सेनापति अपनी अलंकार प्रियता नहीं खो सके हैं किन्तु रसिक-प्रिया का कवि केवल अलंकारिक नहीं है। विहारी का शृंगार-वर्णन उक्ति वैचित्र्य की प्रधानता के कारण हृदय को अधिक देर तक भाव मग्न नहीं कर पाता। इस भाव भग्नता की दृष्टि से सेनापति के कुछ कवित्त अधिक प्रभावपूर्ण हैं किन्तु संयोग की विभिन्न परिस्थितियों की जितनी अधिक कल्पना विहारी कर सके हैं उतनी सेनापति तो क्या देव को छोड़कर हिन्दी का अन्य कोई कवि नहीं कर सका है। मतिराम के शृंगार-वर्णन से तो सेनापति की तुलना की ही नहीं जा सकती। मतिराम के सम्पूर्ण काव्य में जो सरलता, सरसता, प्रभावोत्पादन की शक्ति, मार्मिकता तथा स्वच्छता और तरलता है वह सेनापति को छू भी नहीं गई है। देव और सेनापति की भी कोई तुलना नहीं। देव की शृंगारिकता उनकी आत्मा की अभिव्यक्ति है। उसमें जो आवेग मिलता है वह हिन्दी के अन्य किसी भी कवि में दुर्लभ है। पद्माकर का शृंगार-वर्णन अधिक व्यापक और गम्भीर है। उसमें रस-परिपाक की पूर्ण शक्ति है। यद्यपि यह सत्य है कि पद्माकर में देव के समान आत्मानुभूति की सचाई नहीं है किन्तु सेनापति की भाँति अलंकारिक प्रवृत्ति को प्रश्रय भी उन्होंने नहीं दिया है। अतः शृंगार-वर्णन की दृष्टि से सेनापति हिन्दी के रीतियुगीन प्रथम श्रेणी के कवियों से हीन हैं।

'प्रकृति-वर्णन' का एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें अवश्य सेनापति का स्थान सर्वोपरि है। रीति-युग का अन्य कोई कवि इस क्षेत्र में इनकी समता नहीं कर सकता। सभी कवियों की प्रकृति सम्बन्धी उद्‌भावनायें परम्परा-ग्रहीत तत्वों

का पिष्ट-पेषण मात्र बन कर रह गई है। निरीक्षण की व्यापकता और सूक्ष्मता, चित्रण की कलात्मकता तथा रूप एवं प्रभाव-वर्णन की मौलिकता, इन सभी दृष्टियों से सेनापति अन्य कवियों से आगे निकल गए हैं। बिहारी के, प्रकृति-वर्णन को विद्वानों ने सेनापति के साथ रखने की चेष्टा अवश्य की है किन्तु बिहारी के चित्र इतने संक्षिप्त हैं तथा उनमें भी उक्ति की विशिष्टता पर इतना अधिक बल दिया गया है कि सेनापति से उनकी समता करना उनको गौरव देना मात्र है।

भक्ति-भाव के क्षेत्र में भी सेनापति का विशिष्ट स्थान है। 'केशव' ने भगवान राम को अपना इष्ट भले स्वीकार कर लिया हो किन्तु उनके काव्य में भक्ति का आवेग या तन्मयता नाम मात्र को भी नहीं है। मतिराम और बिहारी की भक्ति-भावना स्फुट भावोक्तियों के रूप में ही स्मरण की जा सकती है। देव की भक्ति अतिशय राग की प्रतिक्रिया के रूप में देखी जा सकती है। ऐसी स्थिति में सेनापति का स्थान इस क्षेत्र में भी तुलनात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह सत्य है कि उनकी भक्ति-भावना को, भक्तियुगीन कवियों—कबीर, तुलसी, सूर, मीरा, आदि—की कोटि में रखकर हम इन भक्त कवियों का उपहास करने की धृष्टता नहीं करेंगे किन्तु हमें यह स्पष्ट करने में भी किंचित् मात्र संकोच नहीं है कि अन्य सभी रीतियुगीन उल्लेखनीय कवियों में सेनापति की भक्ति अधिक सच्ची है। अस्तु,

हम कह सकते हैं कि लक्षण-ग्रंथ-प्रणेता न होने पर भी रीति-काव्यकारों की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों को अपने काव्य में समेट कर चलने वाला यह "कवि-भक्त" रीतियुग के प्रथम श्रेणी के कवियों में स्थान प्राप्त करने का पूर्ण अधिकारी है। सेनापति के काव्य-सौष्ठव पर हिन्दी के मान्य आलोचक मिश्र-बन्धुओं की सम्मति की उपेक्षा आज भी नहीं की जा सकती। उनके अनुसार सेनापति का स्थान नवरत्नों की श्रेणी के ठीक बाद आता है और वे प्रथम श्रेणी के कवि हैं।